

Chapter दस

भागवत सभी प्रश्नों का उत्तर है

श्री-शुक उवाच

अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः ।

मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; अत्र—इस श्रीमद्भागवत में; सर्गः—ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति का वर्णन; विसर्गः—उप-सृष्टि का वर्णन; च—भी; स्थानम्—लोक; पोषणम्—संरक्षण; ऊतयः—सृष्टि की प्रेरणा; मन्वन्तर—मनुओं का परिवर्तन; ईश-अनुकथाः—ईश्वर का ज्ञान; निरोधः—भगवान् के धाम को वापस जाना; मुक्तिः—मुक्ति; आश्रयः—आधार।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा—इस श्रीमद्भागवत में दस विभाग हैं, जो ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति, उप-सृष्टि, लोकान्तर, भगवान् द्वारा पोषण, सृष्टि प्रेरणा, मनुओं के परिवर्तन, ईश्वर ज्ञान, अपने घर-भगवद्भ्राम गमन, मुक्ति तथा आश्रय से सम्बन्धित हैं।

दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानामिह लक्षणम् ।

वर्णयन्ति महात्मानः श्रुतेनार्थेन चाञ्जसा ॥ २ ॥

शब्दार्थ

दशमस्य—दसवें (आश्रय) का; विशुद्धि—एकमात्र; अर्थम्—कारण; नवानाम्—अन्य नौ के; इह—इसी श्रीमद्भागवत में; लक्षणम्—लक्षण; वर्णयन्ति—वर्णन करते हैं; महा-आत्मानः—ऋषिगण; श्रुतेन—वैदिक साक्ष्यों से; अर्थेन—प्रत्यक्ष व्याख्या द्वारा; च—तथा; अञ्जसा—संक्षिप्त रूप में।

इनमें से जो दसवाँ 'आश्रय' तत्त्व है उसकी दिव्यता को अन्यो से पृथक् करने के लिए, उन सबका वर्णन कभी वैदिक साक्ष्य से, कभी प्रत्यक्ष व्याख्या से और कभी महापुरुषों द्वारा दी गई संक्षिप्त व्याख्याओं से किया जाता है।

भूत-मात्रेन्द्रिय-धियां जन्म सर्ग उदाहृतः ।

ब्रह्मणो गुण-वैषम्याद् विसर्गः पौरुषः स्मृतः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

भूत—पाँच स्थूल तत्त्व (क्षिति, जल आदि); मात्रा—इन्द्रियों द्वारा दृश्य वस्तुएँ; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; धियाम्—मन; जन्म—उत्पत्ति; सर्गः—प्राकट्य; उदाहृतः—सृष्टि कहलाती है; ब्रह्मणः—आदि पुरुष ब्रह्मा का; गुण-वैषम्यात्—तीनों गुणों की अन्तः क्रिया से; विसर्गः—दुबारा सृष्टि; पौरुषः—चेष्टाएँ; स्मृतः—कहलाती हैं।

पदार्थ के सोलह प्रकार—अर्थात् पाँच तत्त्व (क्षिति, जल, पावक, गगन तथा वायु), ध्वनि, रूप, स्वाद, गंध, स्पर्श तथा नेत्र, कान, नाक, जीभ, त्वचा एवं मन—की तात्विक सृष्टि

सर्ग कहलाती है और प्रकृति के गुणों की बाद की अन्तःक्रिया विसर्ग कहलाती है।

तात्पर्य : श्रीमद्भागवत के दस विभागों के लक्षणों की व्याख्या के लिए लगातार सात श्लोक आये हैं। इनमें से प्रथम प्रस्तुत श्लोक जो सोलह तत्त्वों—यथा पृथ्वी, जल इत्यादि के साथ बुद्धि तथा मन के प्राकट्य को बताता है। परवर्ती सृष्टि आदि पुरुष एवं गोविन्द के अवतार महाविष्णु की उपर्युक्त सोलह शक्तियों की प्रतिक्रियाओं का फल है जैसाकि ब्रह्म-संहिता (५.४७) में ब्रह्माजी ने कहा है—

यः कारणवजले भजति स्म योग-

निद्रामनन्तजगदण्डसरोमकूपः ।

आधारशक्तिमवलम्ब्य परां स्वमूर्तिं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

गोविन्द, श्रीकृष्ण का प्रथम पुरुष अवतार महाविष्णु कहलाता है। ये योगनिद्रा में रहते हैं और इनके दिव्य शरीर के प्रत्येक रोमछिद्र में असंख्य ब्रह्माण्ड स्थित रहते हैं।

जैसाकि पिछले श्लोक में कहा गया है, पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की विशिष्ट शक्तियों के प्राकट्य से ही श्रुतेन अर्थात् वैदिक निर्देश से यह सृष्टि सम्भव है। बिना वैदिक निर्देश के यह सृष्टि प्रकृति की उपज प्रतीत होती है। ऐसा निष्कर्ष अल्पज्ञान के कारण ही निकलता है। वैदिक निर्देश से स्पष्ट है कि समस्त शक्तियों (अन्तरंगा, बहिरंगा तथा तटस्था) के मूल तो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ही हैं और जैसा पहले बताया गया है, यह तो भ्रमपूर्ण निष्कर्ष है कि यह सृष्टि जड़ प्रकृति द्वारा बनी है। वैदिक निष्कर्ष दिव्य प्रकाश है, जबकि अवैदिक निष्कर्ष भौतिक अन्धकार है। परमेश्वर की अन्तरंगा शक्ति तथा परमेश्वर एक हैं और बहिरंगा शक्ति अन्तरंगा शक्ति के सम्पर्क में ही प्रकाशित होती है। अन्तरंगा शक्ति के अंश-प्रत्यंश जो बहिरंगा शक्ति से सम्पर्क जो क्रिया होती है, वह तटस्था शक्ति अथवा जीवात्मा कहलाती है।

इस प्रकार आदि सृष्टि तो प्रत्यक्ष पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् या परब्रह्म से होती है और गौण सृष्टि, जो मूल अवयवों की प्रतिक्रियाओं का फल है, ब्रह्मा द्वारा रची जाती है। इस तरह समस्त ब्रह्माण्ड के कार्य प्रारम्भ होते हैं।

स्थितिर्वैकुण्ठ-विजयः पोषणं तदनुग्रहः ।

मन्वन्तराणि सद्धर्म ऊतयः कर्म-वासनाः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

स्थितिः—उचित दशा; वैकुण्ठ-विजयः—वैकुण्ठ के स्वामी की विजय; पोषणम्—पालन; तत्-अनुग्रहः—अहैतुकी कृपा; मन्वन्तराणि—मनुओं के शासन; सत्-धर्मः—पूर्ण धर्म; ऊतयः—कार्य करने की प्रेरणा; कर्म-वासनाः—सकाम कर्म की आकांक्षा।

जीवात्मा के लिए उचित तो यही है कि वह भगवान् के नियमों का पालन करे और पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के संरक्षण में पूरी तरह से मानसिक शान्ति प्राप्त करे। सभी मनु तथा उनके नियम जीवन को सही दिशा प्रदान करने के लिए हैं। कार्य करने की प्रेरणा ही सकाम कर्म की आकांक्षा है।

तात्पर्य : यह भौतिक संसार सृजित होता है, कुछ काल तक बना रहता है और भगवान् की इच्छा से पुनः विनष्ट हो जाता है। सृष्टि के अवयवों तथा उपस्रष्टा ब्रह्मा की उत्पत्ति भगवान् विष्णु द्वारा अपने प्रथम तथा द्वितीय अवतारों में की जाती है। प्रथम पुरुष अवतार महाविष्णु हैं और दूसरे पुरुष अवतार गर्भोदकशायी विष्णु हैं, जिनसे ब्रह्मा उत्पन्न हुए। तृतीय पुरुष अवतार क्षीरोदकशायी विष्णु हैं, जो ब्रह्माण्ड की प्रत्येक वस्तु में परमात्मास्वरूप स्थित रहते हैं और ब्रह्मा द्वारा रची गई सृष्टि का पालन करते हैं। ब्रह्मा के अनेक पुत्रों में से शिव भी एक हैं जिनका कार्य इस सृष्टि का संहार है। अतः ब्रह्माण्ड के मूल स्रष्टा तो विष्णु हैं और वे अपनी अहैतुकी कृपा से उत्पन्न जीवों के पालक भी हैं। इस प्रकार समस्त बद्धजीवों को भगवान् की श्रेष्ठता स्वीकार करनी चाहिए और उनके शुद्ध भक्त बनकर इस कष्टमय तथा संकटमय संसार में शान्तिपूर्वक रहना चाहिए। इस संसार को अपनी इन्द्रिय-तुष्टि के लिए उपयुक्त समझने और इस प्रकार विष्णु की बहिरंगा शक्ति द्वारा मोहग्रस्त होने के कारण बद्धजीव को सृष्टि तथा विनाश के प्राकृतिक नियमों को फिर से भोगने के लिए रहना पड़ता है।

भगवद्गीता में कहा गया है कि ब्रह्माण्ड के सर्वोच्चलोक से लेकर सबसे निचले लोक पाताललोक तक के सारे लोक नाशवान हैं और बद्धजीव अपने अच्छे या बुरे कर्मों से या आधुनिक अन्तरिक्ष यान से अन्तरिक्ष में विचरण कर सकते हैं, किन्तु कहीं पर भी उनकी मृत्यु निश्चित है। हाँ, भिन्न-भिन्न लोकों में उनकी आयु पृथक्-पृथक् होती है। किन्तु शाश्वत जीवन प्राप्त करने का एकमात्र

उपाय है भगवान् के धाम को वापस जाना जहाँ पर भौतिक लोकों की भाँति पुनर्जन्म नहीं होता। वैकुण्ठ के स्वामी के साथ अपने सम्बन्धों को विसरा देने के कारण बद्धजीव इस सीधी-सी बात से अनजान रहकर इस भौतिक जगत में स्थायी जीवन बिताने की योजना बनाने का प्रयास करते हैं। बहिरंगा शक्ति से मोहित होने के कारण वे विभिन्न प्रकार के आर्थिक तथा धार्मिक विकास कार्यों में व्यस्त हो जाते हैं और यह भूल जाते हैं कि उनका उद्देश्य भगवान् के धाम वापस जाना है। माया के प्रभाव से यह विस्मृति इतनी प्रबल होती है कि बद्धजीव भगवान् के धाम वापस जाना ही नहीं चाहते। इन्द्रिय-सुख के कारण वे बार-बार जन्म-मरण के चक्र में फँसते रहते हैं और मनुष्य जीवन को बिगाड़ लेते हैं जिसमें ही भगवान् के धाम को वापस जाने के अवसर प्राप्त होते हैं। विभिन्न युगों तथा कल्पों में मनु ने जो आदेशात्मक शास्त्र बनाये वे *सद्धर्म* कहलाते हैं। वे मनुष्यों के लिए सन्मार्ग दिखाने वाले हैं, अतः मनुष्यों को चाहिए कि वे अपने हित में तथा अन्त-काल को सफल बनाने के लिए इन शास्त्रों का उपयोग करें। सृष्टि मिथ्या नहीं है, किन्तु यह अस्थायी प्राकट्य है और बद्धजीवों को भगवान् के धाम वापस जाने के लिए अवसर प्रदान करने के लिए है। भगवान् के पास जाने की इच्छा तथा उस दिशा में किये गये कार्यों से ही कर्म का सन्मार्ग बनता है। जो ऐसे नियमित पथ का अनुसरण करते हैं, भगवान् अपने उन भक्तों को अहैतुकी कृपावश संरक्षण प्रदान करते हैं, किन्तु जो अभक्त हैं, वे सकाम कर्मों के बन्धन में फँसकर अपने को कार्यकलापों के जोखिम में डाल देते हैं। इस प्रसंग में *सद्धर्म* शब्द महत्त्वपूर्ण है। *सद्धर्म* अर्थात् *भगवान्* के धाम वापस जाने के लिए अपना कर्तव्य करना और इस तरह शुद्ध भक्त बनना पवित्र कार्य है। अन्य सभी लोग पवित्र होने का ढोंग रचते हैं, किन्तु वास्तव में वे ऐसे होते नहीं। इसीलिए भगवान् ने *भगवद्गीता* में उपदेश दिया है कि मनुष्य को समस्त तथाकथित धार्मिक कार्यों को त्यागकर भगवान् की भक्ति-मय सेवा में लग जाना चाहिए जिससे वह इस भौतिक संसार के भयावह जीवन के समस्त कष्टों से मुक्त हो सके। *सद्धर्म* में स्थित रहने के लिए कार्य करना ही जीवन की सही दिशा है। मनुष्य का उद्देश्य भगवान् के धाम जाना होना चाहिए न कि अस्थायी जीवन के लिए उत्तम या निष्कृष्ट शरीर ग्रहण करके इस संसार के जन्म-मरण के आवागमन में फँसना। इसी में मानव जीवन की बुद्धिमत्ता है और मनुष्य को ऐसे ही जीवन के कार्यकलापों की आकांक्षा

करनी चाहिए।

अवतारानुचरितं हरेश्चास्यानुवर्तिनाम् ।

पुंसामीश-कथाः प्रोक्ता नानाख्यानोपबृंहिताः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

अवतार— भगवान् का अवतार; अनुचरितम्—कार्यकलाप; हरेः— भगवान् के; च— भी; अस्य— उसके; अनुवर्तिनाम्— अनुयायी; पुंसाम्— मनुष्यों का; ईश-कथाः— ईश्वर का विज्ञान, भगवत्त्व; प्रोक्ताः— कहा गया; नाना— विविध; आख्यान— कथाएँ; उपबृंहिताः— वर्णित।

ईश्वर-विज्ञान (ईश-कथा) श्रीभगवान् के विविध अवतारों, उनकी लीलाओं तथा साथ ही उनके भक्तों के कार्यकलापों का वर्णन करता है।

तात्पर्य : इस ब्रह्माण्ड के अस्तित्व काल में इतिहास का अनुक्रम बनता है, जिसमें जीवात्माओं के कार्यों का लेखा-जोखा अंकित होता है। सामान्य रूप से लोगों में विभिन्न व्यक्तियों तथा कालों के इतिहास तथा आख्यानों को जानने की प्रवृत्ति होती है, किन्तु ईश्वर-विज्ञान (ईश कथा) के विषय सम्बन्धी ज्ञान के अभाव के कारण वे भगवान् के अवतारों के इतिहास का अध्ययन करने में सक्षम नहीं होते। यह सदैव स्मरण रखा जाना चाहिए है कि यह सृष्टि बद्धजीवों के मोक्ष के लिए बनी है। भगवान् अपनी अहैतुकी कृपा के कारण इस भौतिक संसार के विविध लोकों में अवतरित होकर बद्धजीवों के मोक्ष के लिए कार्य करते हैं। इससे इतिहास तथा आख्यान पठनीय बन जाता है। श्रीमद्भागवत में भगवान् तथा उनके भक्तों के सम्बन्ध में अनेक दिव्य कथाएँ हैं। फलतः भक्तों तथा भगवान् की कथाओं को आदरपूर्वक सुनना चाहिए।

निरोधोऽस्यानुशयनमात्मनः सह शक्तिभिः ।

मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्व-रूपेण व्यवस्थितिः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

निरोधः— जगत का लय; अस्य— उसका; अनुशयनम्— पुरुष अवतारी महाविष्णु का योगनिद्रा में लेटना; आत्मनः— जीवात्माओं का; सह— साथ; शक्तिभिः— शक्तियों के साथ; मुक्तिः— मुक्ति; हित्वा— त्याग कर; अन्यथा— नहीं तो; रूपम्— रूप; स्व-रूपेण— स्वरूप में; व्यवस्थितिः— स्थायी पद।

अपनी बद्धावस्था के जीवन-सम्बन्धी प्रवृत्ति के साथ जीवात्मा का शयन करते हुए महाविष्णु में लीन होना प्रकट ब्रह्माण्ड का परिसमापन कहलाता है। परिवर्तनशील स्थूल तथा

सूक्ष्म शरीरों को त्याग कर जीवात्मा के रूप की स्थायी स्थिति 'मुक्ति' है।

तात्पर्य : जैसाकि हम कई बार कह चुके हैं जीवात्मा दो प्रकार के होते हैं। उनमें से अधिकांश नित्य-मुक्त होता है और कुछ नित्य-बद्ध होते हैं। नित्य-बद्ध जीवों में प्रकृति के ऊपर स्वामित्व प्राप्त करने की मानसिकता के विकास की संभावना होती है, अतः उन्हें दो प्रकार की सुविधाएँ प्रदान करने के लिए भौतिक विश्व का प्राकट्य होता है। पहली सुविधा के अनुसार बद्धजीव स्वेच्छा से विश्व पर अधिकार जमा सकता है और दूसरी सुविधा के अनुसार वह भगवान् के धाम को वापस जा सकता है। अतः विश्व के लय होने पर अधिकांश बद्धजीव योगनिद्रा में लेटे हुए भगवान् महाविष्णु में लीन हो जाते हैं जिससे वे अगली सृष्टि में पुनः जन्म लें। किन्तु कुछ बद्धजीव वैदिक साहित्य की दिव्य ध्वनि का अनुसरण करते हुए भगवान् के धाम को वापस जाने में समर्थ होते हैं और अपने बद्ध स्थूल तथा सूक्ष्म भौतिक शरीरों को त्याग कर आध्यात्मिक एवं आदि शरीर प्राप्त करते हैं। ईश्वर से अपने सम्बन्धों को भूल जाने से जीवात्माओं को भौतिक बद्ध शरीर प्राप्त होते हैं और विश्व के प्राकट्य होने पर बद्धजीवों को शास्त्रों की सहायता से, जिन्हें भगवान् ने अपने विभिन्न अवतारों के समय कृपावश संकलित किया है, अपनी मूल स्थिति को पुनरुज्जीवित करने का अवसर प्रदान किया जाता है। ऐसे दिव्य साहित्य के श्रवण या पठन से बद्ध अवस्था में होते हुए भी जीव को मुक्त होने में सहायता मिलती है। समस्त वैदिक साहित्य का उद्देश्य श्रीभगवान् की भक्ति-मय सेवा करना है और जैसे ही इस पद पर कोई स्थित हो जाता है उसे तुरन्त ही बद्धजीवन से छुटकारा मिल जाता है। भौतिक स्थूल तथा सूक्ष्म रूपों का कारण मात्र बद्धजीव की अज्ञानता है और ज्योंही वह भगवान् की भक्ति में स्थित हो जाता है, वह बद्ध अवस्था से मुक्ति पाने का अधिकारी बन जाता है। यह भक्ति परमेश्वर के लिए दिव्य आकर्षण होती है, क्योंकि परमेश्वर समस्त भावों (रसों) के स्रोत हैं। प्रत्येक प्राणी किसी न किसी भाव के आनन्द का इच्छुक होता है, किन्तु वह समस्त आकर्षण के परम स्रोत को नहीं जानता (*रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति*)। वैदिक स्तोत्र समस्त आनन्द के परम स्रोत की जानकारी देते हैं, समस्त आनन्द का अजस्र स्रोत भगवान् हैं और जो भाग्यशाली मनुष्य *श्रीमद्भागवत* जैसे दिव्य ग्रन्थों के द्वारा इस सन्देश को प्राप्त करने में समर्थ है, वह सदा के लिए मुक्त होकर वैकुण्ठ में अपना उचित

स्थान ग्रहण करता है।

आभासश्च निरोधश्च यतोऽस्त्यध्यवसीयते ।

स आश्रयः परं ब्रह्म परमात्मेति शब्द्यते ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

आभासः—जगत की उत्पत्ति; च—तथा; निरोधः—तथा लय; च—भी; यतः—स्रोत से; अस्ति—है; अध्यवसीयते—प्रकट होता है; सः—वह; आश्रयः—आगार; परम्—परम; ब्रह्म—जीव; परमात्मा—परम-आत्मा; इति—इस प्रकार; शब्द्यते—कहा गया है।

परम पुरुष अथवा परमात्मा कहलाने वाले परमेश ही दृश्य जगत के परम स्रोत, इसके आगार (आश्रय) तथा लय हैं। इस प्रकार वे परम स्रोत, परम सत्य हैं।

तात्पर्य : जैसाकि श्रीमद्भागवत के प्रारम्भ में कहा गया है समस्त शक्तियों के परम स्रोत के पर्याय जन्माद्यस्य यतः, वदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानम् अद्वयम् ब्रह्मेति परमात्मेति भगवान् इति शब्द्यते, परब्रह्म, परमात्मा या भगवान् कहलाते हैं। इस श्लोक में इति शब्द के प्रयोग से पर्यायों का अन्त हो जाता है और इस प्रकार भगवान् का द्योतक है। इसकी और व्याख्या बाद के श्लोकों में की जाएगी, किन्तु, अन्ततः इस भगवान् का अर्थ है भगवान् कृष्ण, क्योंकि श्रीमद्भागवत ने पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को कृष्ण रूप में पहले ही मान लिया है। कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् समस्त शक्तियों का मूलाधार परम सत्य है, जो परब्रह्म इत्यादि कहलाता है और भगवान् परम सत्य के लिए अन्तिम शब्द है। किन्तु भगवान् के पर्यायों में से—यथा नारायण, विष्णु तथा पुरुष में से अन्तिम शब्द कृष्ण है, जिसकी पुष्टि भगवद्गीता में हुई है—अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते। इसके अतिरिक्त श्रीमद्भागवत भगवान् के शब्द अवतार रूप में भगवान् कृष्ण का प्रतिरूप है—

कृष्णे स्वधामोपगते धर्मज्ञानादिभिः सह ।

कलौ नष्टशामेषः पुराणार्कोऽधुनोदितः ॥

(भागवत १.३.४३)

इस प्रकार यह निष्कर्ष निकला कि भगवान् श्रीकृष्ण समस्त शक्तियों के परम स्रोत हैं और कृष्ण शब्द का अर्थ भी यही है। कृष्ण अथवा कृष्ण-तत्त्व की व्याख्या के लिए ही श्रीमद्भागवत की रचना की गई है। श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कंध में सूत गोस्वामी तथा शौनक जैसे महान् ऋषियों के प्रश्नोत्तर

से इस सत्य की जानकारी मिलती है और इसी स्कंध के प्रथम तथा द्वितीय अध्यायों में इसकी व्याख्या है। तृतीय अध्याय में विषय को स्पष्ट किया गया है तथा चतुर्थ अध्याय में यह और भी स्पष्ट होती जाती है। द्वितीय स्कंध में श्रीभगवान् के रूप में परम सत्य पर बल दिया गया है और परम-ईश्वर श्रीकृष्ण हैं, ऐसा दर्शाया गया है। जैसाकि पहले कहा जा चुका है चार श्लोकों में *श्रीमद्भागवत* का सार संक्षेप में दिया गया है। इन पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के विषय की अन्ततः ब्रह्मा ने *ब्रह्म-संहिता* में इस प्रकार पुष्टि की है—*ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द-विग्रहः।* ऐसा ही श्रीमद्भागवत् के तृतीय स्कंध से निष्कर्ष निकलता है। पूर्ण विषय की विस्तृत व्याख्या श्रीमद्भागवत् के दशम तथा एकादश स्कंधों में मिलती है। स्वायंभुव मन्वन्तर तथा चाक्षुष मन्वन्तर जैसे मन्वन्तरों के प्रसंग में, जिनकी व्याख्या तृतीय, चतुर्थ, पंचम, षष्ठ तथा सप्तम स्कंध में की गई है, श्रीकृष्ण का ही संकेत है। अष्टम स्कंध में वैवस्वत मन्वन्तर से भी अप्रत्यक्ष रूप में उसी विषय की व्याख्या होती है। नवम स्कंध का भी वही सार है। बारहवें स्कंध में विशेष रूप से भगवान् के विविध अवतारों के विषय में आगे व्याख्या की गई है। इस प्रकार सम्पूर्ण *श्रीमद्भागवत* के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि भगवान् श्रीकृष्ण ही समस्त शक्ति के परम स्रोत हैं। उपासकों की कोटियों के अनुसार नारायण, ब्रह्म, परमात्मा इत्यादि नामों की व्याख्या अलग-अलग हो जाती है।

योऽध्यात्मिकोऽयं पुरुषः सोऽसावेवाधिदैविकः ।

यस्तत्रोभय-विच्छेदः पुरुषो ह्याधिभौतिकः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; अध्यात्मिकः—इन्द्रियों से युक्त; अयम्—यह; पुरुषः—व्यक्ति; सः—वह; असौ—वह; एव—भी; अधिदैविकः—नियामक देव; यः—जो; तत्र—वहाँ; उभय—दोनों का; विच्छेदः—वियोग; पुरुषः—व्यक्ति; हि—क्योंकि; आधिभौतिकः—दृश्य शरीर अथवा देहवान जीवात्मा।

विभिन्न इन्द्रियों से युक्त व्यक्ति आध्यात्मिक पुरुष कहलाता है और इन इन्द्रियों को वश में रखने वाला देव (श्रीविग्रह) अधिदैविक कहलाता है। नेत्रगोलकों में दिखने वाला स्वरूप अधिभौतिक पुरुष कहलाता है।

तात्पर्य : परम नियन्ता आश्रय तत्त्व परमात्मा के अपने रूप (स्वांश रूप) भगवान् हैं। *भगवद्गीता* (१०.४२) में कहा गया है—

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥

विष्णु, ब्रह्मा तथा शिव जैसे सभी नियामक देव पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण के परमात्मा रूप के विविध प्राकट्य हैं, जो उनके ही द्वारा उत्पन्न प्रत्येक ब्रह्माण्ड में प्रविष्ट होकर अपने को इसी प्रकार प्रकट करते हैं। फिर भी नियन्त्रक तथा नियन्त्रित के भी विभाग हैं। उदाहरणार्थ, खाद्य विभाग का नियन्त्रक व्यक्ति उन्हीं अवयवों से निर्मित होता है जिनसे नियन्त्रित व्यक्ति। इसी प्रकार भौतिक जगत् का प्रत्येक प्राणी उच्च देवताओं द्वारा नियन्त्रित होता है। उदाहरणार्थ, हमारी इन्द्रियों के नियन्त्रक वरिष्ठ नियामक देवता हैं। हम प्रकाश के बिना देख नहीं सकते, किन्तु प्रकाश का परम नियामक सूर्य है। सूर्यदेव सूर्यलोक में रहते हैं और जहाँ तक हमारी आँखों की बात है मनुष्य अथवा अन्य जीव इस पृथ्वी पर होने के कारण सूर्यदेव द्वारा नियन्त्रित होते हैं। इसी प्रकार हमारी समस्त इन्द्रियाँ वरिष्ठ देवताओं द्वारा नियन्त्रित हैं, जो हमारी ही तरह की नियन्त्रित जीवात्माएँ हैं, किन्तु ये शक्तिसम्पन्न हैं और हम उनके द्वारा नियन्त्रित हैं। नियन्त्रित (शासित) जीवात्मा अध्यात्मिक पुरुष कहलाता है और नियन्त्रक अधिदैविक पुरुष कहलाता है। संसार के ये सारे पद विभिन्न कर्मों के फलस्वरूप हैं। कोई भी जीव अपने पुण्यकर्म के द्वारा सूर्यदेव, यहाँ तक कि ब्रह्मा अथवा उच्च लोकों का कोई अन्य देवता, बन सकता है। इसी प्रकार निम्न श्रेणी के सकाम कार्यों के कारण वह उच्चतर देवताओं द्वारा नियन्त्रित होता है। इस प्रकार प्रत्येक जीवात्मा परमात्मा के परम नियन्त्रण में रहता है, जो प्रत्येक व्यक्ति को नियन्त्रक तथा नियन्त्रित के विभिन्न पदों पर आसीन करते हैं।

जो नियन्त्रक तथा नियन्त्रित में भेद का कारण है अर्थात् भौतिक देह, वह अधिभौतिक पुरुष कहलाता है। शरीर को कभी-कभी पुरुष कहा जाता है, जिसकी पुष्टि वेदों के इस सूत्र में हुई है— *स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः ।* यह शरीर *अन्न-रस* रूप है। यह शरीर अन्न पर निर्भर है, किन्तु शरीर में रहने वाला जीवात्मा कुछ खाता नहीं, क्योंकि मूलतः स्वामी आत्मा है। भौतिक शरीर के क्षय होने के पश्चात् उसके बदलने की आवश्यकता होती है। अतः एक जीवात्मा तथा नियन्त्रक देव का अन्तर अन्न-रस-मय देह में है। सूर्य का शरीर विराट हो सकता है और मनुष्य का लघु, किन्तु सभी दृश्य देह पदार्थ से

निर्मित हैं, तो भी सूर्य तथा पुरुष, जो नियन्त्रक तथा नियन्त्रित सम्बन्ध से बँधे हैं, परमेश्वर के एक-से अध्यात्मिक अंश हैं और इन अंशों को विभिन्न पदों में बैठाने वाला परमेश्वर ही है। इस तरह यह निष्कर्ष निकला कि परम पुरुष सभी का आश्रय है।

एकमेकतराभावे यदा नोपलभामहे ।

त्रितयं तत्र यो वेद स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

एकम्—एक; एकतर—अन्य; अभावे—के न होने पर; यदा—क्योंकि; न—नहीं; उपलभामहे—दृश्य; त्रितयम्—तीन अवस्थाएँ; तत्र—वहाँ; यः—जो; वेद—जानता है; सः—वह; आत्मा—परमात्मा; स्व—निज; आश्रय—शरण; आश्रयः—शरण का।

विभिन्न जीवात्माओं की उपर्युक्त तीनों अवस्थाएँ अन्योन्याश्रित हैं। किसी एक के अभाव में दूसरे को नहीं समझा जा सकता। किन्तु परमेश्वर इन सबको एक दूसरे के आश्रय रूप में देखता हुआ इन सबसे स्वतन्त्र है, अतः वह परम आश्रय है।

तात्पर्य : जीवात्माएँ असंख्य हैं और नियन्त्रक तथा नियन्त्रित सम्बन्ध द्वारा एक दूसरे पर आश्रित हैं। किन्तु बिना देखे कोई यह नहीं जान सकता है कि कौन नियन्त्रक है और कौन नियन्त्रित है। उदाहरणार्थ, सूर्य हमारी दृष्टि का नियन्त्रक है हम सूर्य को देखते हैं, क्योंकि सूर्य के शरीर है और सूर्य का प्रकाश केवल इसीलिए उपयोगी है, क्योंकि हमारे नेत्र हैं (हम देखते हैं)। बिना नेत्र के सूर्य-प्रकाश अर्थहीन है और सूर्य-प्रकाश के बिना नेत्र व्यर्थ हैं। इस प्रकार वे अन्योन्याश्रित हैं। इनमें से कोई भी स्वतन्त्र नहीं है। अतः स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि किसने इन्हें अन्योन्याश्रित बनाया? जिसने ऐसा किया होगा वह अवश्य ही पूर्णतः स्वतन्त्र होगा। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में कहा गया है समस्त अन्योन्याश्रित वस्तुओं का परम स्रोत पूर्ण स्वतन्त्र तत्त्व होता है। इन सभी अन्योन्याश्रित तत्त्वों का ऐसा स्रोत परम सत्य या परमात्मा है, जो अन्य किसी वस्तु पर आश्रित नहीं है। वह *स्वाश्रयाश्रयः* है। वह केवल अपने आप पर आश्रित है, अतः प्रत्येक वस्तु का परम आश्रय वह है। यद्यपि परमात्मा तथा ब्रह्म भगवान् के आश्रित हैं, क्योंकि भगवान् ही पुरुषोत्तम या परम पुरुष हैं, किन्तु वह परमात्मा का भी स्रोत है। *भगवद्गीता* (१५.१८) में भगवान् कृष्ण कहते हैं कि वे पुरुषोत्तम हैं और हर वस्तु के स्रोत हैं, अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि श्रीकृष्ण समस्त जीवों के, यहाँ तक कि

परमात्मा तथा परब्रह्म के भी, परमस्रोत तथा आश्रय हैं। यदि हम यह मान भी लें कि परमात्मा तथा आत्मा में कोई अन्तर नहीं है, तो भी आत्मा माया के मोह से मुक्त होने के लिए परमात्मा पर आश्रित है। प्रत्येक व्यक्ति माया के चंगुल में फँसा है, अतः गुणात्मक रूप से परमात्मा से अभिन्न होते हुए भी वह अपने को पदार्थ मानने के मोह से ग्रस्त है और इस यथार्थ जीवन के मोहमय विचार से उबर पाने के लिए आत्मा को परमात्मा के आश्रित रहना होता है, जिससे वह उसी रूप में मान्य हो। इस दृष्टि से भी परमात्मा परम आश्रय है और इसके विषय में किसी प्रकार का सन्देह नहीं है।

जीवात्मा या जीव सदा परमात्मा पर आश्रित है, क्योंकि आत्मा अपनी पहचान (सत्ता) भूल जाता है, किन्तु परमात्मा अपनी दिव्य स्थिति को नहीं भूलता। *भगवद्गीता* में जीवात्मा तथा परमात्मा की पृथक्-पृथक् स्थितियों का उल्लेख हुआ है। चतुर्थ अध्याय में जीवात्मा रूप अर्जुन को इस प्रकार चित्रित किया गया है, जिसे अपने अनेक पूर्वजन्मों की स्मृति नहीं है, किन्तु परमात्मास्वरूप भगवान् को सब कुछ स्मरण रहता है। भगवान् को इतना तक स्मरण है कि करोड़ों वर्ष पूर्व उन्होंने सूर्यदेव को *भगवद्गीता* की शिक्षा दी थी। भगवान् लाखों-करोड़ों वर्ष पुरानी घटनाएँ स्मरण रख सकते हैं जैसाकि *भगवद्गीता* (७.२६) में कहा गया है—

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।

भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥

सच्चिदानन्द रूप भगवान् को इसका पूरा ज्ञान है कि भूतकाल में क्या हुआ, वर्तमान काल में क्या हो रहा है और भविष्य में क्या होगा। ऐसे परमात्मा तथा ब्रह्म के आश्रय भगवान् को अल्पज्ञ नहीं समझ पाते।

विश्वचेतना तथा जीवात्मा की चेतना को एकरूप मानने का प्रचार भ्रामक है, क्योंकि अर्जुन जैसा व्यक्ति, जो सदैव भगवान् के साथ रहा, अपने अतीत के कर्मों को स्मरण नहीं रख सका तो भला तुच्छ मनुष्य अपने को झूठमूठ विश्वचेतना से एकरूप बताकर किस प्रकार अपने भूत, वर्तमान तथा भविष्य को जान सकता है ?

पुरुषोऽण्डं विनिर्भिद्य यदासौ स विनिर्गतः ।

आत्मनोऽयनमन्विच्छन्नपोऽस्त्राक्षीच्छुचिः शुचीः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

पुरुषः—परम पुरुष, परमात्मा; अण्डम्—ब्रह्माण्ड को; विनिर्भिद्य—प्रत्येक को अलग-अलग स्थापित करके; यदा—जब; असौ—वही; सः—वह (भगवान्); विनिर्गतः—बाहर निकल आया; आत्मनः—अपना; अयनम्—स्थान पर पड़े हुए; अन्विच्छन्—चाहते हुए; अपः—जल; अस्त्राक्षीत्—उत्पन्न किया; शुचिः—परम पवित्र; शुचीः—दिव्य ।

विभिन्न ब्रह्माण्डों को पृथक् करके विराट् स्वरूप भगवान् (महाविष्णु), जो प्रथम पुरुष अवतार के प्रकट होने के स्थान कारणार्णव से बाहर आये थे, सृजित दिव्य जल (गर्भोदक) में शयन करने की इच्छा से उन विभिन्न ब्रह्माण्डों में प्रविष्ट हुए ।

तात्पर्य : जीवात्माओं तथा सभी प्राणियों के स्वतंत्र स्रोत, परमात्मास्वरूप परमेश्वर का विश्लेषण करने के पश्चात् श्रील शुकदेव गोस्वामी अब भगवद्भक्ति की अनिवार्यता बता रहे हैं, जो समस्त जीवात्माओं का एकमात्र धर्म है । भगवान् श्रीकृष्ण तथा उनके अंश और अंशांश एक दूसरे से अभिन्न हैं और इस प्रकार इनमें से प्रत्येक स्वतन्त्र हैं । इसे सिद्ध करने की दृष्टि से शुकदेव गोस्वामी (परीक्षित को दिये गये वचन के अनुसार) भौतिक सृष्टि के क्षेत्र में भी पुरुष अवतार की स्वतन्त्र सत्ता का वर्णन कर रहे हैं । भगवान् के ऐसे कार्य भी दिव्य होते हैं, अतः वे भी परमेश्वर की लीला कहलाते हैं । भक्ति के क्षेत्र में आत्म-साक्षात्कार चाहने वालों के लिए ऐसी लीलाओं का श्रवण करना अत्यन्त अनुकूल होता है । कुछ लोग यह तर्क कर सकते हैं, तो फिर क्यों न मथुरा तथा वृन्दावन में की गई भगवान् की लीलाओं का रसास्वादन किया जाय जो संसार की सभी वस्तुओं से अधिक मधुर है ? श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर उत्तर देते हैं कि भगवान् की वृन्दावन की लीलाएँ सिद्ध भक्तों के आस्वादनार्थ हैं । नवदीक्षित भक्त भगवान् की ऐसी परम दिव्य लीलाओं का गलत अर्थ लगा सकते हैं, अतः इस संसार में सृष्टि, पालन तथा संहार विषयक भगवान् की लीलाएँ प्राकृत अर्थात् संसारी भक्तों के द्वारा आस्वाद्य हैं । जिस प्रकार योग-पद्धति प्रणाली उन पुरुषों के निमित्त होती है, जो देह के प्रति अत्यधिक आसक्त होते हैं इसी प्रकार भगवान् की सृष्टि तथा संहार विषयक लीलाएँ अत्यधिक आसक्त संसारी पुरुषों के लिए होती हैं । अतः ऐसे संसारी पुरुषों को विधि-निर्माता भगवान् के विषय में ज्ञान कराने के लिए शरीर तथा ब्रह्माण्ड के कार्यों को सम्मिलित कर लिया जाता है । विज्ञानी लोग भौतिक विधि के अनेक पारिभाषिक शब्दों द्वारा भौतिक कार्यों की व्याख्या करते हैं, किन्तु ये अंधे विज्ञानी विधि-निर्माता

(भगवान्) को भूल जाते हैं। श्रीमद्भागवत विधि-निर्माता का संकेत करता है। मनुष्य को चाहिए कि वह मोटर या डायनैमो की यांत्रिक रचना से विस्मित न हो वरन् उस इंजीनियर को सराहे जिसने ऐसी अद्भुत काम करने वाली मशीन बनाई। एक भक्त तथा अभक्त का यही अन्तर है। भक्तगण सदैव भौतिक नियमों के निर्देशक भगवान् की प्रशंसा करते हैं। भगवद्गीता (९.१०) में भौतिक प्रकृति के विषय में भगवान् का निर्देश इस प्रकार है—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।

हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥

“भौतिक नियमों से पूर्ण भौतिक प्रकृति मेरी विभिन्न शक्तियों में से एक है, अतः यह न तो स्वतन्त्र है, न निरुद्देश्य है। चूँकि मैं दिव्य रूप से सर्वशक्तिमान हूँ, अतः प्रकृति पर मेरे दृष्टि डालने से ही प्रकृति के नियम इतने अद्भुत ढंग से चल रहे हैं। इसीलिए भौतिक नियमों की क्रिया-प्रतिक्रिया चलती रहती है और इस जगत का बारम्बार सृजन, पालन तथा संहार होता रहता है।”

किन्तु जो अल्पज्ञानी हैं, वे मनुष्य शरीर की रचना तथा इस ब्रह्माण्ड के भीतर भौतिक नियमों का अध्ययन करके अचम्भित होते हैं और मूर्खतावश ईश्वर के अस्तित्व को यह मानकर नकारते हैं कि भौतिक नियम स्वतन्त्र हैं और उन पर कोई पराभौतिक नियंत्रण नहीं है। ऐसी मूर्खता का उत्तर भगवद्गीता (९.११) में निम्न शब्दों में मिलता है—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।

परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥

“मेरे मनुष्य रूप में अवतरित होने पर मूर्ख (मूढ़) मेरा उपहास करते हैं। वे मुझ परमेश्वर के दिव्य स्वभाव को नहीं जानते।” मूढ़ लोग भगवान् के दिव्य शरीर को अपने शरीर जैसा समझते हैं, अतः वे उन भगवान् की अपार नियामक शक्ति के विषय में सोच नहीं पाते, जो भौतिक नियमों के संचालन में दृश्य नहीं होते। किन्तु जब भगवान् अपनी सगुण शक्ति से अवतरित होते हैं, तो सामान्य लोगों की आँखों से दिखते हैं। भगवान् कृष्ण अपने यावत् रूप में प्रकट हुए और उन्होंने अनेक अद्भुत कार्य किये और भगवद्गीता का सम्बन्ध ऐसे ही कार्यो तथा ज्ञान से है। फिर भी मूर्ख लोग भगवान् श्रीकृष्ण

को परमेश्वर नहीं मानते। सामान्य रूप से वे भगवान् के अणु व अनन्त रूपों को मानते हैं, क्योंकि वे स्वयं अणु अथवा अनन्त नहीं हो सकते, किन्तु उन्हें यह समझना चाहिए कि यह अणु और अनन्त रूप ही भगवान् की सर्वोच्च महिमा नहीं है। उनकी शक्ति का सबसे अद्भुत प्रदर्शन तब होता है जब अनन्त भगवान् हमारे बीच हमारी ही तरह प्रकट होते हैं। तो भी उनकी लीलाएँ साधारण मनुष्यों से पृथक् होती हैं। सात वर्ष की आयु में गोवर्धन पर्वत को उठाना तथा अपनी तरुणावस्था में सोलह हजार पत्नियों से विवाह करना—ये उनकी अपार शक्ति के कुछ उदाहरण हैं, किन्तु मूढ़ लोग इन्हें देखकर या सुनकर भी इन्हें कपोलकल्पित कह कर नकारते हैं और भगवान् को अपने समान मानते हैं। वे यह नहीं समझ पाते कि यद्यपि वे अपनी ही शक्ति से मानव-रूप में हैं फिर भी वे परमेश्वर हैं और परम नियामक की शक्ति से ओत-प्रोत हैं।

किन्तु जब ऐसे मूढ़जन *श्रीमद्भगवद्गीता* अथवा *श्रीमद्भागवत* में दिये गये भगवान् के संदेशों को शिष्य-परम्परा द्वारा आत्मसमर्पण तथा श्रवण द्वारा प्राप्त करते हैं, तो वे भी शुद्ध भक्तों की कृपा से भक्त बन जाते हैं। इसीलिए ऐसे ही अल्पज्ञानियों के हित के लिए भगवान् की संसारी लीलाओं को *भगवद्गीता* या *श्रीमद्भागवत* में चित्रित किया गया है।

तास्ववात्सीत् स्व-सृष्टासु सहस्रंपरिवत्सरान् ।

तेन नारायणो नाम यदापः पुरुषोद्भवाः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

तासु—उसमें; अवात्सीत्—रह रहे; स्व—अपनी; सृष्टासु—सृष्टि करने में; सहस्रम्—एक हजार; परिवत्सरान्—वर्ष; तेन—उस कारण से; नारायणः—नारायण; नाम—नाम; यत्—क्योंकि; आपः—जल; पुरुष-उद्भवाः—परम पुरुष से उद्भूत।

परम पुरुष निराकार नहीं हैं, अतः वे स्पष्टतः नर अथवा पुरुष हैं। इसीलिए इन परम नर द्वारा उत्पन्न दिव्य जल नार कहलाता है। चूँकि वे इसी जल में शयन करते हैं इसीलिए नारायण कहलाते हैं।

द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च ।

यदनुग्रहतः सन्ति न सन्ति यदुपेक्षया ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

द्रव्यम्—भौतिक तत्त्व; कर्म—कर्म; च—तथा; कालः—समय; च—भी; स्व-भावः जीवः—जीवात्माएँ; एव—निश्चय ही; च—भी; यत्—जिसके; अनुग्रहतः—अनुग्रह से; सन्ति—हैं, स्थित हैं; न—नहीं; सन्ति—स्थित हैं; यत्-उपेक्षया—उपेक्षा से।

मनुष्य को यह भलीभाँति समझ लेना चाहिए कि समस्त भौतिक तत्त्व, कर्म, काल तथा गुण और इन सब को भोगने वाली जीवात्माएँ भगवत्कृपा से ही विद्यमान हैं। उनके द्वारा उपेक्षित होते ही ये सारी वस्तुओं अस्तित्वहीन हो जाती हैं।

तात्पर्य : जीवात्माएँ प्रकृति पर अपना प्रभुत्व जताना चाहती हैं, अतः वे ही भौतिक तत्त्वों, काल, गुण आदि की भोक्ता हैं। भगवान् परम भोक्ता हैं और जीवात्माएँ उन्हें उनके भोग में सहायक बनने और इस प्रकार हर एक के दिव्य भोग में सम्मिलित होने के लिए हैं। भोग में भोक्ता तथा भोग्य दोनों भाग लेते हैं, किन्तु माया के वशीभूत होकर जीवात्माएँ भगवान् के समान स्वयं भोक्ता बनना चाहती हैं, यद्यपि वे इसके निमित्त हैं नहीं। *भगवद्गीता* में जीवों अर्थात् जीवात्माओं को भगवान् की पराप्रकृति कहा गया है। *विष्णु पुराण* में भी ऐसा ही उल्लेख है। अतः जीवात्माएँ कभी पुरुष या वास्तविक भोक्ता नहीं होतीं, अतः इस संसार में जीवात्मा द्वारा सुखभोग की इच्छा झूठी है। आध्यात्मिक जगत में जीवात्माएँ शुद्ध होती हैं, अतः वे परमेश्वर के सुख में हाथ बँटाने वाली होती हैं। भौतिक जगत में अपने कर्म के द्वारा जीवात्मा के सुखोपभोग की भावना प्राकृतिक नियमों के कारण क्रमशः क्षीण होती जाती है और माया बद्धजीवों का कान भरती रहती है कि वे भगवान् से तदाकार हों। यह माया का आखिरी जाल है। जब भगवत्कृपा से यह अन्तिम जाल भी दूर हो जाता है, तो जीवात्मा अपनी पूर्वस्थिति को प्राप्त होता है और इस प्रकार वास्तव में मुक्त हो जाता है। भगवान् भव-बन्धन से मुक्ति देने के लिए ही इस जगत की सृष्टि करते हैं, कुछ काल तक पालते हैं (अपनी गणना के अनुसार एक हजार वर्षों तक, जैसाकि पिछले श्लोक में आया है) और तब अपनी ही इच्छानुसार उसका संहार कर देते हैं। अतः जीवात्माएँ भगवत्कृपा पर पूर्णतः आश्रित रहती हैं और इसीलिए जब भगवान् चाहते हैं तो वैज्ञानिक विकास द्वारा उत्पन्न तथाकथित सुखोपभोगों को मिट्टी में मिला देते हैं।

एको नानात्वमन्विच्छन् योग-तत्त्वात् समुत्थितः ।

वीर्यं हिरण्मयं देवो मायया व्यसृजत् त्रिधा ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

एकः—अकेला, वह; नानात्वम्—अनेक; अन्विच्छन्—ऐसी इच्छा से; योग-तल्पात्—योगनिद्रा की शय्या से; समुत्थितः—उत्पन्न; वीर्यम्—वीर्य; हिरण्मयम्—सुनहले रंग का; देवः—देवता; मायया—माया से; व्यसृजत्—रचना की; त्रिधा—तीन भागों में।

योगनिद्रा की शय्या में लेटे हुए भगवान् ने एकाकी रूप में से नाना प्रकार के जीवों को प्रकट करने की इच्छा करते हुए अपनी बहिरंगा शक्ति से सुनहरे रंग का वीर्य-प्रतीक उत्पन्न किया।

तात्पर्य : भगवद्गीता (९.७-८) में भौतिक जगत की सृष्टि तथा संहार का वर्णन इस प्रकार से हुआ है—

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।

कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।

भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥

“हे कुन्तीपुत्र! कल्प के अन्त होने पर सृजनात्मक शक्तियाँ अर्थात् भौतिक प्रकृति एवं भौतिक प्रकृति में संघर्ष रत सारे जीव मेरी दिव्य प्रकृति में लीन हो जाते हैं और फिर से उन्हें प्रकट करने की मेरी इच्छा करने पर मैं उन्हें अपनी शक्ति से पुनः उत्पन्न करता हूँ।”

सम्पूर्ण दृश्य जगत मेरे अधीन कार्य करता है। यह मेरी इच्छा से बारम्बार स्वतः प्रकट होता रहता है और मेरी ही इच्छा से अन्त में विनष्ट होता है।”

इस प्रकार ब्रह्माण्ड की सृष्टि के पूर्व भगवान् अपनी पूर्ण शक्ति (महा-समष्टि) के रूप में विद्यमान रहते हैं और अपने को अनेक करने की इच्छा से वे अपने को बहुमुखी पूर्ण शक्ति (समष्टि) में विस्तारित करते हैं। फिर वे इससे व्यष्टि रूप में अध्यात्मिक, अधिदैविक तथा अधिभौतिक आयामों में विस्तार करते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि तथा सृजन-शक्तियाँ अभिन्न होते हुए भी भिन्न-भिन्न होती हैं। चूँकि प्रत्येक प्राणी उन्हीं (महाविष्णु या महासमष्टि) से उद्भूत है, अतः विश्व की कोई शक्ति उनसे पृथक् नहीं है, किन्तु इन सभी विस्तारित शक्तियों के अपने-अपने विशिष्ट कार्य तथा ईश्वरनिर्मित खेल हैं, अतः वे भगवान् से भिन्न भी हैं। जीवात्माएँ भी भगवान् की ऐसी ही शक्ति (तटस्था शक्ति) हैं, अतः वे एक ही समय भगवान् से अभिन्न होते हुए भिन्न भी हैं।

अप्रकट अवस्था में जीवित शक्तियाँ भगवान् के भीतर ही सामर्थ्यमुक्त रहती हैं और जब जगत में निर्बन्ध छोड़ दिया जाता है, तो वे प्रकृति के गुणों के अधीन विभिन्न इच्छाओं के अनुरूप भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रदर्शित होती हैं। जीवित शक्तियों के ऐसे असमान प्राकट्य जीवों की बद्ध अवस्था के सूचक हैं। लेकिन अपने सनातन प्राकट्य में मुक्त जीवात्मा अबद्ध रूप में शरणागत हो चुके होते हैं, अतः वे सृष्टि तथा संहार के अधीन नहीं आते। इस तरह योगनिद्रा में अपनी शैय्या में लेटे हुए भगवान् की चितवन से इस सृष्टि का सृजन होता है। और इस तरह सारे ब्रह्माण्ड तथा ब्रह्माण्ड के स्वामी, ब्रह्मा बारम्बार प्रकट होते और विनष्ट होते रहते हैं।

अधिदैवमथाध्यात्ममधिभूतमिति प्रभुः ।

अथैकं पौरुषं वीर्यं त्रिधाभिद्यत तच्छृणु ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

अधिदैवम्—नियंत्रक जीव; अथ—अब; अध्यात्मम्—नियन्त्रित जीव; अधिभूतम्—भौतिक शरीर; इति—इस प्रकार; प्रभुः—भगवान्; अथ—इस प्रकार; एकम्—केवल एक; पौरुषम्—पुरुष की, भगवान् की; वीर्यम्—शक्ति; त्रिधा—तीन भागों में; अभिद्यत—विभक्त हुई; तत्—वह; शृणु—सुनो।

मुझसे सुनो कि भगवान् अपनी एक शक्ति को किस प्रकार अधिदैव, अध्यात्म तथा अधिभूत नामक तीन भागों में विभक्त करते हैं, जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है।

अन्तःशरीर आकाशात् पुरुषस्य विचेष्टतः ।

ओजः सहो बलं जज्ञे ततः प्राणो महानसुः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

अन्तः शरीरे—शरीर के भीतर; आकाशात्—आकाश से; पुरुषस्य—महाविष्णु के; विचेष्टतः—चेष्टा करते हुए; ओजः—इन्द्रिय बल; सहः—मानसिक बल; बलम्—शारीरिक बल; जज्ञे—उत्पन्न किया; ततः—तत्पश्चात्; प्राणः—प्राण, जीवनी शक्ति; महान् असुः—प्रत्येक जीवन का उत्स।

महाविष्णु के दिव्य शरीर के भीतर स्थित आकाश से इन्द्रिय बल, मानसिक बल तथा शारीरिक बल उत्पन्न होते हैं। इनके साथ ही सम्पूर्ण जीवनी शक्ति (प्राण) का समग्र उत्स (स्रोत) उत्पन्न होता है।

अनुप्राणन्ति यं प्राणाः प्राणन्तं सर्व-जन्तुषु ।

अपानन्तमपानन्ति नर-देवमिवानुगाः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

अनुप्राणन्ति—जीवित लक्षणों का अनुसरण करते हैं; यम्—जिसको; प्राणाः—इन्द्रियाँ; प्राणन्तम्—चेष्टावान्; सर्व—जन्तुषु—समस्त जीवों में; अपानन्तम्—चेष्टा रोकने पर; अपानन्ति—अन्य सभी रुक जाते हैं; नर-देवम्—राजा; इव—सदृश; अनुगाः—अनुयायी ।

जिस प्रकार राजा के अनुयायी अपने स्वामी का अनुसरण करते हैं उसी तरह सम्पूर्ण शक्ति के गतिशील होने पर अन्य समस्त जीव हिलते-डुलते (गति करते) हैं और जब सम्पूर्ण शक्ति निश्चेष्ट हो जाती है, तो अन्य समस्त जीवों की इन्द्रिय-क्रियाशीलता रुक जाती है।

तात्पर्य : व्यष्टि जीवात्माएँ परम पुरुष की पूर्णतया शक्ति पर निर्भर रहती हैं। किसी का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रहता, जिस प्रकार विद्युत बल्ब में स्वतन्त्र तेज नहीं होता। बिजली का प्रत्येक यंत्र बिजलीघर पर पूर्ण रूप से निर्भर रहता है, यह बिजलीघर बिजली उत्पादन के लिए जलाशय पर निर्भर रहता है, जलाशय बादलों पर, बादल सूर्य पर और सूर्य सृष्टि पर निर्भर रहती है और यह सृष्टि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की चेष्टा अथवा गति पर निर्भर करती है। इस प्रकार भगवान् समस्त कारणों के कारण स्वरूप हैं।

प्राणेनाक्षिपता क्षुत् तृडन्तरा जायते विभोः ।

पिपासतो जक्षतश्च प्राड्मुखं निरभिद्यत ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

प्राणेन—जीवनी शक्ति से; आक्षिपता—विचलित होकर; क्षुत्—भूख; तृट्—प्यास; अन्तरा—भीतर से; जायते—उत्पन्न करती हैं; विभोः—परमेश्वर की; पिपासतः—प्यास बुझाने के लिए इच्छुक; जक्षतः—खाने के लिए इच्छुक; च—तथा; प्राक्—पहले; मुखम्—मुँह; निरभिद्यत—प्रकट हुआ।

विराट पुरुष द्वारा विचलित किए जाने पर जीवनी शक्ति (प्राण) ने भूख तथा प्यास को उत्पन्न किया और जब विराट पुरुष ने पीने तथा खाने की इच्छा की तो मुँह खुल गया।

तात्पर्य : जिस प्रकार से माता के गर्भ में जीवों के अंगों तथा ऐन्द्रिक अनुभूतियों का विकास होता है उसी प्रकार से समस्त जीवों से समष्टि रूप विराट पुरुष का भी विकास होता प्रतीत होता है, अतः समस्त सृजन कार्य का परम कारण निर्गुण या निश्चेष्ट नहीं है। भगवान् में भी समस्त प्रकार की कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों की अनुभूतियाँ रहती हैं और इस तरह वे प्रत्येक व्यक्ति में घटित होती हैं। यह इच्छा या चेष्टा परम पुरुष का स्वभाव है। चूँकि वे समस्त मुखों की समष्टि हैं, अतः अलग-अलग जीवात्माओं में मुख होता है। इसी प्रकार से अन्य सारी इन्द्रियाँ तथा उनके अंग भी होते हैं। यहाँ पर

मुख समस्त इन्द्रियों का प्रतीक स्वरूप है, क्योंकि अन्यो पर भी यही नियम लागू होते हैं।

मुखतस्तालु निर्भिन्नं जिह्वा तत्रोपजायते ।

ततो नाना-रसो जज्ञे जिह्वया योऽधिगम्यते ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

मुखतः—मुख से; तालु—तालू; निर्भिन्नम्—उत्पन्न; जिह्वा—जीभ; तत्र—तत्पश्चात्; उपजायते—प्रगट होती है; ततः—तत्पश्चात्; नाना-रसः—अनेक स्वाद; जज्ञे—प्रकट हुए; जिह्वया—जीभ से; यः—जो; अधिगम्यते—आस्वादित होते हैं।

मुख से तालू प्रकट हुआ और फिर जीभ भी उत्पन्न हुई। इन सबके बाद विविध स्वादों की उत्पत्ति हुई जिससे जीभ उनका स्वाद ले सके।

तात्पर्य : विकास की यह क्रमिक प्रक्रिया नियामक देवों (अधिदैव) की व्याख्या प्रस्तुत करती है, क्योंकि आस्वाद्य रसों का नियामक देव वरुण है। अतः मुख जीभ का आश्रय-स्थल बनता है, जो विभिन्न रसों का आस्वाद करती है, जिनका नियामक देव वरुण है। इससे ऐसा लगता है कि जीभ के साथ ही वरुण भी उत्पन्न हुआ। जीभ तथा तालू निमित्तमात्र होने के कारण अधिभूत या पदार्थ के रूप हैं जब कि कार्य करने वाला देव अधिदैव है, जो कि जीव है तथा जिस पुरुष पर कार्य किया जाता है, वह अध्यात्म है। इस प्रकार विराट पुरुष के मुख खुलने के पश्चात् तीनों श्रेणियों के जन्म की व्याख्या हो जाती है। प्रस्तुत श्लोक में चार सिद्धान्त दिए गये हैं जिनसे पहले बताए गये तीन प्रमुख तत्त्वों—अध्यात्म, अधिदैव तथा अधिभूतम्—की व्याख्या हो जाती है।

विवक्षोर्मुखतो भूमनो वह्निर्वाग् व्याहृतं तयोः ।

जले चैतस्य सुचिरं निरोधः समजायत ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

विवक्षोः—जब बोलने की आवश्यकता हुई; मुखतः—मुख से; भूमनः—परमेश्वर की; वह्निः—अग्नि या अग्निदेव; वाक्—शब्द; व्याहृतम्—वाणी; तयोः—दोनों के द्वारा; जले—जल में; च—फिर भी; एतस्य—इन सबका; सुचिरम्—दीर्घ काल तक; निरोधः—अवरोध; समजायत—बना रहा।

जब परम पुरुष की बोलने की इच्छा हुई तो उनके मुख से वाणी गूँजी। फिर मुख से अधिष्ठाता देव अग्नि की उत्पत्ति हुई। किन्तु जब वे जल में शयन कर रहे थे तो ये सारे कार्य बन्द पड़े थे।

तात्पर्य : विभिन्न इन्द्रियों के क्रमिक विकास की विचित्रता की पुष्टि उनके अधिष्ठाता देवों से हो

जाती है। अतः यह समझ लेना चाहिए कि इन्द्रियों के कार्य परमेश्वर की इच्छा द्वारा नियन्त्रित होते हैं। ये इन्द्रियाँ एक प्रकार से बद्धजीवों को छूट प्रदान करती हैं, जिन्हें इनका उपयोग परमेश्वर द्वारा नियुक्त अधिष्ठाता देवों के नियन्त्रण में करना होता है। जो इन विधानों का उल्लंघन करता है उसे निम्नस्तर के जीवन में गिरा कर दण्डित किया जाता है। उदाहरणार्थ, जीभ तथा इसके अधिष्ठाता देव वरुण पर विचार करें। जीभ खाने के लिए है और मनुष्य, पशु तथा पक्षी अपनी-अपनी स्वतन्त्रता के कारण अलग-अलग स्वाद रखते हैं। एक मनुष्य तथा एक शूकर के स्वाद एक-से नहीं होते। किन्तु जब विशिष्ट जीवात्मा विभिन्न गुणों के अनुसार कोई स्वाद विकसित कर लेता है, तो अधिष्ठाता देव उसे विशिष्ट प्रकार का शरीर प्रदान करता है। किन्तु यदि विवेकहीन होकर मनुष्य शूकर की भाँति स्वाद विकसित करता है, तो उसे अगले जन्म में शूकर का शरीर मिलता है। शूकर सभी प्रकार का भोजन स्वीकार करता है, यहाँ तक कि विष्ठा भी खाता है, अतः जो मनुष्य बिना बिचारे ऐसा स्वाद विकसित करता है उसे अगले जीवन में निम्न जीवन बिताने के लिए तैयार रहना चाहिए। ऐसा जीवन भी भगवत्कृपा ही है, क्योंकि बद्धजीव ने जिस विशिष्ट प्रकार के भोजन का स्वाद चाहा उसे वैसा ही शरीर मिला। यदि मनुष्य को शूकर का शरीर मिले तो इसे भगवत्कृपा ही समझनी चाहिए, क्योंकि भगवान् वैसी ही सुविधा प्रदान करते हैं। मृत्यु के पश्चात् जो शरीर प्राप्त होता है, वह अन्धाधुन्ध नहीं वरन् परम नियन्ता द्वारा प्रदान किया जाता है। अतः मनुष्य को सचेत रहना चाहिए कि अगले जीवन में उसे किस प्रकार का शरीर मिलने वाला है। अविवेकपूर्ण गैरजिम्मेदार जीवन घातक होता है और सभी शास्त्रों की यही घोषणा है।

नासिके निरभिद्येतां दोधूयति नभस्वति ।

तत्र वायुर्गन्ध-वहो घ्राणो नसि जिघृक्षतः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

नासिके—नथुनों में; निरभिद्येताम्—विकसित होकर; दोधूयति—तेजी से निकलती हुई; नभस्वति—श्वास; तत्र—तत्पश्चात्; वायुः—वायु; गन्ध-वहः—सुगन्धि; घ्राणः—घ्राण शक्ति; नसि—नाक में; जिघृक्षतः—सुगन्ध सूँघने की इच्छा करते हुए।

तत्पश्चात् जब परम पुरुष को सुगन्धि सूँघने की इच्छा हुई तो नथुने तथा श्वास, घ्राणेन्द्रिय तथा सुगन्धियों की उत्पत्ति हुई और सुगन्धि को वहन करने वाली वायु के अधिष्ठाता देव भी

प्रकट हुए।

तात्पर्य : जब भगवान् को सूँघने की इच्छा हुई तो नासिका, सुगन्ध, अधिष्ठाता वायुदेव, घ्राणशक्ति इत्यादि एकसाथ प्रकट हो गये। उपनिषदों में आये इस कथन की वैदिक मन्त्रों द्वारा पुष्टि होती है कि जीवात्मा द्वारा कोई कार्य करने के पूर्व ईश्वर प्रत्येक वस्तु के लिए इच्छा प्रकट करते हैं। जीवात्मा तभी देख सकता है जब ईश्वर देख रहा हो, जीवात्मा तभी सूँघ सकता है जब ईश्वर सूँघे, इत्यादि। कहने का तात्पर्य यह है कि जीवात्मा कोई भी कार्य स्वतन्त्र रूप से नहीं कर सकता। भले ही वह किसी कार्य को स्वतन्त्र रूप से करने के विषय में सोचे, किन्तु वह स्वतन्त्र रूप से कोई कार्य कर नहीं सकता। भगवत्कृपा से सोचने की स्वतन्त्रता तो है, किन्तु कार्य रूप में उसकी परिणति भगवत्कृपा से ही होती है इसीलिए यह आम कहावत है—आपन सोची होत नहिं प्रभु सोची तत्काल, सारी व्याख्या का विषय है कि जीवात्मा परतन्त्र है और परमेश्वर पूर्ण स्वतन्त्र है। जो अल्पज्ञानी पुरुष अपने को ईश्वर के समकक्ष बताते हैं उन्हें पहले अपने आपको स्वतन्त्र तथा परम सिद्ध प्रमाणित करना चाहिए। तब उन्हें ईश्वर से अपनी एकात्मकता का दावा प्रमाणित करना चाहिए।

यदात्मनि निरालोकमात्मानं च दिदृक्षतः ।

निर्भिन्ने ह्यक्षिणी तस्य ज्योतिश्चक्षुर्गुण-ग्रहः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; आत्मनि—अपने को; निरालोकम्—बिना प्रकाश के; आत्मानम्—अपना दिव्य शरीर; च—अन्य शारीरिक रूप भी; दिदृक्षतः—देखने की इच्छा की; निर्भिन्ने—प्रगट होने से; हि—क्योंकि; अक्षिणी—आँखों के; तस्य—उसका; ज्योतिः—सूर्य; चक्षुः—आँखें; गुण-ग्रहः—देखने की शक्ति।

इस प्रकार जब सारी वस्तुएँ अन्धकार में विद्यमान थीं तो भगवान् की अपने आपको तथा जो कुछ उन्होंने रचा था, उन सबको देखने की इच्छा हुई। तब आँखें, प्रकाशमान सूर्यदेव, देखने की शक्ति तथा दिखने वाली वस्तु—ये सभी प्रकट हुईं।

तात्पर्य : यह ब्रह्माण्ड यथार्थ में घना अंधकार है और इसलिए समग्र सृष्टि *तमस्* या अंधकार कहलाती है। रात्रि ही ब्रह्माण्ड का वास्तविक स्वरूप है, क्योंकि तब मनुष्य को कुछ भी नहीं दिखता, यहाँ तक कि वह स्वयं को भी नहीं देख सकता। भगवान् ने अपनी अहैतुकी कृपा से सर्वप्रथम अपने आपको तथा अपनी सारी सृष्टि को देखना चाहा। इस तरह सूर्य प्रकट हुआ; समस्त जीवों में देखने की

शक्ति उत्पन्न हुई और दिखनेवाली वस्तुएँ भी प्रकट हुईं। इसका अर्थ यह हुआ कि सूर्य की सृष्टि के बाद ही सारा व्यवहार-जगत दिखाई पड़ने लगा।

बोध्यमानस्य ऋषिभिरात्मनस्तज्जिघृक्षतः ।

कर्णौ च निरभिद्येतां दिशः श्रोत्रं गुण-ग्रहः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

बोध्यमानस्य—जानने की इच्छा से; ऋषिभिः—ऋषियों द्वारा; आत्मनः—परमेश्वर का; तत्—वह; जिघृक्षतः—ग्रहण करने की इच्छा होने पर; कर्णौ—दो कान; च—भी; निरभिद्येताम्—प्रकट हुए; दिशः—दिशा अथवा वायु देवता; श्रोत्रम्—सुनने की शक्ति; गुण-ग्रहः—तथा सुनने की वस्तुएँ।

महान् ऋषियों द्वारा जानने की इच्छा विकसित होने से कान, सुनने की शक्ति, सुनने के अधिष्ठाता देव तथा सुनने की वस्तुएँ प्रकट हुईं। ऋषिगण आत्मा के विषय में सुनना चाह रहे थे।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है ज्ञान के द्वारा प्रत्येक वस्तु के आश्रय रूप परमेश्वर के विषय में जानने का प्रयत्न करना चाहिए। ज्ञान का अर्थ केवल उन प्राकृतिक नियमों का ज्ञान नहीं है, जो भगवान् के निर्देश से कार्य कर रही हैं। विज्ञानी प्रकृति में कार्यशील भौतिक नियमों के विषय में जानने के लिए उत्सुक रहते हैं। वे अपने से दूर अन्य ग्रहों में घटित होने वाली घटनाओं के विषय में रेडियो तथा टेलीविजन द्वारा सुनने के लिए उत्सुक रहते हैं, किन्तु उन्हें यह समझना चाहिए कि भगवान् ने सुनने की शक्ति अथवा सुनने के उपकरण उन्हें अपने विषय में या भगवान् के विषय में सुनने के लिए ही प्रदान किये थे। दुर्भाग्यवश सुनने की शक्ति का गलत प्रयोग सांसारिक विषयों सम्बन्धी शब्दों के सुनने में किया जाता है। महान् ऋषिगण वैदिक ज्ञान के द्वारा केवल ईश्वर के विषय में सुनने की इच्छा रखते थे। श्रवण द्वारा ज्ञान ग्रहण करने की शुरुआत यही है।

वस्तुनो मृदु-काठिन्य-लघु-गुर्वोष्ण-शीतताम् ।

जिघृक्षतस्त्वङ् निर्भिन्ना तस्यां रोम-मही-रुहाः ।

तत्र चान्तर्बहिर्वातस्त्वचा लब्ध-गुणो वृतः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

वस्तुनः—समस्त पदार्थ की; मृदु—कोमलता; काठिन्य—कठोरता; लघु—हल्कापन; गुरु—भारीपन; ओष्ण—उष्णता; शीतताम्—शीतलता; जिघृक्षतः—देखने की इच्छा से; त्वक्—स्पर्श; निर्भिन्ना—वितरित; तस्याम्—त्वचा में; रोम—रोएँ; मही-रुहाः—तथा वृक्ष, अधिष्ठाता देव; तत्र—वहाँ; च—भी; अन्तः—भीतर; बहिः—बाहर; वातः त्वचा—स्पर्श इन्द्रिय या चमड़ी; लब्ध—देखकर; गुणः—स्पर्शेन्द्रिय का विषय; वृतः—उत्पन्न।

जब पदार्थ के भौतिक गुणों—यथा कोमलता, कठोरता, उष्णता, शीतलता, हल्कापन तथा भारीपन—को देखने की इच्छा हुई तो अनुभूति की पृष्ठभूमि त्वचा, त्वचा के छिद्र, रोम तथा उनके अधिष्ठाता देवों (वृक्षों) की उत्पत्ति हुई। त्वचा के भीतर तथा बाहर वायु की खोल है, जिसके माध्यम से स्पर्श का अनुभव होने लगा।

तात्पर्य : पदार्थ की कोमलता जैसे भौतिक गुण ऐन्द्रिय अनुभूति के विषय हैं, अतः भौतिक ज्ञान स्पर्श का विषय है। पदार्थ का ताप हाथ से स्पर्श करके जाना जा सकता है किसी वस्तु का भार उसको हाथ में उठाकर ज्ञात किया जा सकता है, जिससे उसके भारीपन या हल्केपन का अनुमान लग सकता है। शरीर की त्वचा, छिद्र (रोमकूप) तथा रोम—ये सब स्पर्श के अन्योन्याश्रित हैं। त्वचा के बाहर तथा भीतर बहने वाली वायु भी स्पर्शेन्द्रिय का एक माध्यम है। यह स्पर्शेन्द्रिय ज्ञान का स्रोत भी है, इसीलिए यह सुझाया जाता है कि जैसा ऊपर वर्णित है, भौतिक या शारीरिक ज्ञान आत्मज्ञान के अधीन है। आत्मज्ञान बढ़कर व्यावहारिक ज्ञान हो सकता है, किन्तु भौतिक ज्ञान कभी आत्मज्ञान नहीं बन सकता।

किन्तु शरीर के रोमों तथा पृथ्वी के शरीर पर उगी वनस्पति में निकट का सम्बन्ध है। जैसाकि तृतीय स्कंध में कहा गया है वनस्पतियाँ त्वचा के लिए पोषक हैं, भोजन के रूप में तथा औषधि के रूप में भी—*त्वचमस्य विनिर्भिन्नां विविशुर्धिष्यम् ओषधीः ।*

हस्तौ रुरुहतुस्तस्य नाना-कर्म-चिकीर्षया ।

तयोस्तु बलवानिन्द्र आदानमुभयाश्रयम् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

हस्तौ—दो हाथ; रुरुहतुः—प्रकट हुए; तस्य—उसके; नाना—विविध; कर्म—कर्म; चिकीर्षया—इच्छा से; तयोः—उनका; तु—किन्तु; बलवान्—शक्ति देने के लिये; इन्द्रः—स्वर्ग का देवता; आदानम्—हाथ के कार्य; उभय-आश्रयम्—देवता तथा हाथ दोनों पर आश्रित।

तत्पश्चात् जब परम पुरुष को नाना प्रकार के कार्य करने की इच्छा हुई तो दो हाथ तथा उनकी नियामक शक्ति एवं स्वर्ग के देवता इन्द्र के साथ ही दोनों हाथों तथा देवता पर आश्रित कार्य भी प्रकट हुए।

तात्पर्य : हम यह देख सकते हैं कि जीवात्मा की इन्द्रियाँ किसी भी अवस्था में स्वतन्त्र नहीं

रहतीं। भगवान् को इन्द्रियों का स्वामी (हृषीकेश) कहा गया है। इस प्रकार जीवात्माओं की इन्द्रियाँ भगवान् की इच्छा से प्रकट होती हैं और प्रत्येक अंग किसी न किसी विशेष देवता द्वारा नियन्त्रित होता है। अतः कोई भी अपने को इन्द्रियों का स्वामी नहीं कह सकता। जीवात्मा इन्द्रियों द्वारा नियन्त्रित है, इन्द्रियाँ देवताओं द्वारा नियन्त्रित हैं और देवता परमेश्वर के दास होते हैं। सृष्टि की यही व्यवस्था है। अन्ततः सब कुछ परमेश्वर द्वारा नियन्त्रित होता है और प्रकृति अथवा जीवात्मा को किसी प्रकार की स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं है। जो मोहग्रस्त जीवात्मा अपने को अपनी इन्द्रियों का स्वामी होने का दावा करता है, वह भगवान् की बहिरंगा शक्ति के चंगुल में रहता है। जब तक जीवात्मा को अपने क्षुद्र अस्तित्व के घमंड में रहता है तब तक उसे भगवान् की बहिरंगा शक्ति के कठोर नियन्त्रण में समझना चाहिए और माया के चंगुल से मुक्ति पाने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता, चाहे वह अपने को कितना ही मुक्त जीव क्यों न घोषित करता रहे।

गतिं जिगीषतः पादौ रुरुहातेऽभिकामिकाम् ।

पद्भ्यां यज्ञः स्वयं हव्यं कर्मभिः क्रियते नृभिः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

गतिम्—चाल; जिगीषतः—इच्छा करने पर; पादौ—दो पाँव; रुरुहाते—प्रकट होकर; अभिकामिकाम्—सार्थक; पद्भ्याम्—पाँवों से; यज्ञः—भगवान् विष्णु; स्वयम्—स्वयं; हव्यम्—कर्तव्य; कर्मभिः—अपने कर्म से; क्रियते—कराता है; नृभिः—विभिन्न मनुष्यों द्वारा।

तत्पश्चात् गति (इधर उधर चलना) को नियन्त्रित करने की इच्छा से उनकी टाँगें प्रकट हुईं और टाँगों से उनके अधिष्ठाता देव विष्णु की उत्पत्ति हुई। इस कार्य की स्वयं विष्णु द्वारा निगरानी करने से सभी प्रकार के मनुष्य अपने-अपने निर्धारित यज्ञों (कार्यों) में संलग्न हैं।

तात्पर्य : प्रत्येक व्यक्ति अपने कार्य विशेष में संलग्न रहता है और जब वह इधर-उधर जाता है, तो ये कार्य प्रकट होते हैं। संसार के बड़े-बड़े शहरों में यह सुस्पष्ट दिखता है, लोग इन शहरों में एक स्थान से दूसरे स्थान को बड़े-बड़े कार्य लेकर घूमते हैं। यह गतिशीलता बड़े-बड़े शहरों तक ही सीमित नहीं होती, यह शहरों से बाहर भी विभिन्न वाहनों द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान तक या एक शहर से दूसरे शहर तक देखी जाती है। लोग व्यापार की सफलता हेतु सड़कों पर कारों तथा रेलों द्वारा चलते हैं और पृथ्वी के भीतर भूमिगत रेलों द्वारा तथा आकाश में वायुयानों द्वारा यात्रा करते हैं। किन्तु

इन समस्त गतियों का मूल उद्देश्य सुखी जीवन के लिए धन अर्जित करना होता है। इस सुखी जीवन के लिए सारे विज्ञानी, कलाकार, इंजीनियर, टेक्नीशियन मानव-क्रियाशीलता की विभिन्न शाखाओं में लगे रहते हैं। किन्तु वे यह नहीं जानते कि मानव जीवन के उद्देश्य की पूर्ति के लिए कार्यों को किस प्रकार सार्थक बनाया जाए। इस रहस्य से अनजान होने से उनके सारे कार्य अनियन्त्रित इन्द्रियतृप्ति के उद्देश्य से किये जाते हैं, अतः वे ऐसा करके अनजाने ही अन्धकार के गहन क्षेत्रों में प्रवेश करते हैं।

भगवान् की बहिरंगा शक्ति द्वारा मोहित होने से वे परम भगवान् विष्णु को पूरी तरह भूल चुके हैं और यह मान बैठते हैं कि यह जीवन जैसाकि आजकल भौतिक प्रकृति के अन्तर्गत प्रदर्शित होता है, अधिकाधिक इन्द्रिय-भोग के लिए है। किन्तु ऐसी गलत देहात्मबुद्धि से वांछित मनःशान्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती, अतः प्रकृति के समस्त साधनों का उपयोग करते हुए ज्ञान में वृद्धि करके भी इस भौतिक सभ्यता में कोई सुखी नहीं रहता। रहस्य यह है कि उन्हें विश्वशान्ति के लिए कदम-कदम पर यज्ञ करने का प्रयास करना चाहिए। *भगवद्गीता* (१८.४५-४६) में भी इसी रहस्य का उपदेश दिया गया है—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।

स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

भगवान् ने अर्जुन से कहा, “अब इसके तत्त्व को मुझसे सुनो कि अपने स्वाभाविक कर्म में लगा हुआ मनुष्य किस प्रकार संसिद्धि को प्राप्त हो जाता है। परमेश्वर की पूजा द्वारा तथा जिस परम भगवान् विष्णु में यह सम्पूर्ण जगत व्याप्त है और जिसके नियंत्रण में प्रत्येक जीवात्मा अपनी प्रवृत्ति के अनुसार अपनी वांछित सुविधाएँ प्राप्त करता है, उसके लिए यज्ञ करके मनुष्य जीवन की परम सिद्धि प्राप्त कर सकता है।”

जीवन में विभिन्न प्रकार के लगावों का होना हानिकर नहीं है, क्योंकि विभिन्न कार्यों द्वारा अपने जीवन की योजना बनाने के लिए मनुष्य कुछ अनुपात में स्वतन्त्र है, किन्तु उसे यह भलीभाँति समझ

लेना चाहिए कि इस जीवन में वह पूर्णतः स्वतन्त्र नहीं है। मनुष्य निश्चित रूप से परमेश्वर तथा उनके अधीन माध्यमों के वश में होता है। यह जानते हुए उसे नियमपूर्वक अपने कार्य तथा श्रम के फलस्वरूप भगवान् विष्णु की प्रेमाभक्ति में दक्ष अधिकारी विद्वानों द्वारा बताई गई विधि से भगवान् की सेवा करनी चाहिए। ऐसे कार्य करने के लिए शरीर का सबसे महत्वपूर्ण अंग टाँगें होती हैं, क्योंकि इनके बिना एक स्थान से दूसरे स्थान को जाया नहीं जा सकता, अतः भगवान् मनुष्यों की टाँगों पर विशेष नियन्त्रण रखते हैं, क्योंकि ये यज्ञ करने के निमित्त बने हैं।

निरभिद्यत शिश्नो वै प्रजानन्दामृतार्थिनः ।

उपस्थ आसीत् कामानां प्रियं तदुभयाश्रयम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

निरभिद्यत—बाहर आया; शिश्नः—पुरुष का लिंग; वै—निश्चय ही; प्रजा-आनन्द—काम-रस; अमृत-अर्थिनः—अमृत को चखने की इच्छा रखने वाला; उपस्थः—जननेन्द्रियाँ; आसीत्—संसार में आई; कामानाम्—विषय सुख का; प्रियम्—अत्यन्त प्रिय; तत्—वह; उभय-आश्रयम्—दोनों का आश्रय।

तत्पश्चात् काम-सुख, सन्तानोत्पत्ति तथा स्वर्गिक अमृत सुख के आस्वादन के लिए भगवान् ने जननेन्द्रियाँ उत्पन्न कीं। इस प्रकार जननेन्द्रिय तथा उसके अधिष्ठाता देव प्रजापति उत्पन्न हुए। काम-सुख की वस्तु तथा अधिष्ठाता देव भगवान् की जननेन्द्रियों के अधीन रहते हैं।

तात्पर्य : बद्धजीवों के लिए काम-सुख स्वर्गिक आनन्द प्रदान करने वाला है और यह सुख जननेन्द्रियों द्वारा आस्वाद्य है। स्त्री काम-सुख का माध्यम है तथा काम-सुख की ऐन्द्रिक अनुभूति एवं स्त्री ये दोनों ही प्रजापति द्वारा नियन्त्रित हैं, जो स्वयं भगवान् के जननेन्द्रिय के अधीन है। निर्विशेषवादियों को चाहिए कि वे इस श्लोक से सीखें कि भगवान् निराकार नहीं हैं, क्योंकि उनके जननेन्द्रियाँ होती हैं जिन पर काम-सुख की सारी वस्तुएँ आश्रित हैं। यदि संभोग से स्वर्गिक अमृत की अनुभूति न होती तो संतान के पालन-पोषण की बला कोई अपने सिर न लेता। यह संसार बद्धजीवों को पुनर्यौवन प्राप्ति का अवसर प्रदान करता है, जिससे वे भगवान् के धाम वापस जा सकें, फलतः सृष्टि के उद्देश्य को बनाए रखने के लिए जीवों की उत्पत्ति अनिवार्य है। इस कार्य में काम-सुख प्रेरक बनता है, अतः मनुष्य चाहे तो इस सुख के बीच भगवान् की भी सेवा करता रह सकता है। यह सेवा तभी सार्थक होती है जब काम-सुख से उत्पन्न सन्तान भगवत्-चेतना में समुचित शिक्षा प्राप्त करे। भौतिक सृष्टि का

एकमात्र उद्देश्य जीवों की सुप्त भगवत्-चेतना को जागृत करना है। मनुष्य शरीर को छोड़कर अन्य किसी भी जीव में काम-सुख भगवान् के सेवा भाव से प्रेरित नहीं होता। किन्तु मनुष्य रूप में बद्धजीव मोक्ष प्राप्ति के लिए उपयुक्त सन्तानों को भगवत्-चेतना की ओर अभिमुख कर सके तो चाहे तो सैकड़ों सन्तानें उत्पन्न करके वह अपार इन्द्रियसुख द्वारा दिव्य सुख लूट सकता है। अन्यथा सन्तानें उत्पन्न करना शूकरों जैसा कार्य है; अपितु शूकर मनुष्य से बढ़कर निपुण है, क्योंकि वह एक ही बार में दर्जनों बच्चे पैदा करता है, जबकि मनुष्य एक बार में केवल एक सन्तान उत्पन्न कर सकता है। अतः मनुष्य को स्मरण रखना चाहिए कि जननेन्द्रियाँ, काम-सुख, स्त्री तथा सन्तान—ये सब भगवान् की सेवा से सम्बन्धित हों और जो भगवान् के साथ अपने सेवा सम्बन्ध को भूल जाता है, वह प्रकृति-नियमों के द्वारा तीन प्रकार के तापों से पीड़ित होता रहता है। कुत्ते को भी विषय-भोग का अनुभव होता है, किन्तु उसमें ईश्वर-चेतना का भाव नहीं उठता। मानव जीवन ईश्वर-चेतना का अनुभव होने से कुत्ते से भिन्न है।

उत्सिसृक्षोर्धातु-मलं निरभिद्यत वै गुदम् ।

ततः पायुस्ततो मित्र उत्सर्ग उभयाश्रयः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

उत्सिसृक्षोः—मल त्याग की इच्छा से; धातु-मलम्—खाद्य पदार्थों का मल; निरभिद्यत—प्रकट हुआ; वै—निश्चय ही; गुदम्—गुदा द्वार; ततः—तत्पश्चात्; पायुः—विसर्जन इन्द्रिय; ततः—तत्पश्चात्; मित्रः—अधिष्ठाता देवता; उत्सर्गः—बाहर निकलने वाली वस्तु; उभय—दोनों; आश्रयः—शरण।

तत्पश्चात् जब उन्हें खाये हुए भोजन के मल त्याग की इच्छा हुई तो गुदा द्वार और फिर पायु-इन्द्रिय और उनके अधिष्ठातादेव मित्र विकसित हुए। पायु इन्द्रिय तथा उत्सर्जित पदार्थ ये दोनों अधिष्ठाता देव के आश्रय में रहते हैं।

तात्पर्य : जहाँ मलत्याग करते हुए मल पर भी नियन्त्रण होता हो वहाँ जीवात्मा अपने को स्वतन्त्र होने का दावा कैसे कर सकता है ?

आसिसृप्सोः पुरः पुर्या नाभि-द्वारमपानतः ।

तत्रापानस्ततो मृत्युः पृथक्त्वमुभयाश्रयम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

आसिसृप्सोः—सर्वत्र जाने की इच्छा से; पुरः—विभिन्न शरीरों में; पुर्याः—एक शरीर से; नाभि-द्वारम्—उदर के छिद्र या नाभि; अपानतः—प्रकट हुआ; तत्र—तत्पश्चात्; अपानः—प्राण का रुकना; ततः—तत्पश्चात्; मृत्युः—मृत्यु; पृथक्त्वम्—पृथक् रूप से; उभय—दोनों; आश्रयम्—शरण।

तत्पश्चात् जब उन्हें एक शरीर से दूसरे में जाने की इच्छा हुई तो नाभि तथा अपानवायु एवं मृत्यु की एकसाथ सृष्टि हुई। मृत्यु तथा अपानवायु दोनों का ही आश्रय नाभि है।

तात्पर्य : प्राणवायु जीवनदाता है और अपानवायु प्राण को रुद्ध करता है। इन दोनों के कम्पन नाभि से उत्पन्न होते हैं। यह नाभि एक शरीर से दूसरे शरीर को जोड़ने वाली गाँठ है। ब्रह्माजी गर्भोदकशायी विष्णु की नाभि से पृथक् शरीर के रूप में प्रकट हुए और यही नियम सामान्य शरीर के जन्म में भी लागू होता है। शिशु का शरीर माता के शरीर से विकसित होता है और जब शिशु माता के शरीर से विलग होता है, तो नाभि-ग्रन्थि (नारा) काटकर उसे अलग (पृथक्) किया जाता है। इसी विधि से परमेश्वर ने अपने आपको नाना रूपों में पृथक् किया। अतः जीवात्माएँ भिन्न अंश हैं और उसकी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं होती।

आदित्सोरन्न-पानानामासन् कुक्ष्यन्त्र-नाडयः ।

नद्यः समुद्राश्च तयोस्तुष्टिः पुष्टिस्तदाश्रये ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

आदित्सोः—प्राप्त करने की इच्छा; अन्न-पानानाम्—भोजन तथा जल का; आसन्—हुई; कुक्षि—उदर; अन्त्र—आँतें; नाडयः—तथा धमनियाँ; नद्यः—नदियाँ; समुद्राः—समुद्र; च—भी; तयोः—उन दोनों का; तुष्टिः—पोषण पालन; पुष्टिः—उपापचय (रस प्रक्रिया); तत्—उनका; आश्रये—स्रोत।

जब भोजन तथा जल लेने की इच्छा हुई तो उदर, आँतें तथा धमनियाँ प्रकट हुईं। नदियाँ तथा समुद्र इनके पोषण तथा उपापचय के स्रोत हैं।

तात्पर्य : आँतों के अधिष्ठाता देव नदियाँ हैं और धमनियों के समुद्र हैं। उदर को भोजन तथा जल प्रदान करने से पोषण होता है और भोजन तथा जल के उपापचय से क्षय हुई शारीरिक शक्तियों की प्रतिपूर्ति होती है। अतः शारीरिक स्वास्थ्य आँतों तथा धमनियों की स्वस्थ क्रिया पर निर्भर रहता है। नदियाँ तथा समुद्र इन दोनों के अधिष्ठाता देव हैं और ये आँतों तथा धमनियों को स्वस्थ रखते हैं।

निदिध्यासोरात्म-मायां हृदयं निरभिद्यत ।

ततो मनश्चन्द्र इति सङ्कल्पः काम एव च ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

निदिध्यासोः—जानने का इच्छुक; आत्म-मायाम्—अपनी शक्ति को; हृदयम्—मन का स्थान; निरभिद्यत—प्रकट हुआ; ततः—तत्पश्चात्; मनः—मन; चन्द्रः—मन का अधिष्ठाता देव, चन्द्रमा; इति—इस प्रकार; सङ्कल्पः—बढ़ निश्चय; कामः—इच्छा; एव—भी; च—भी।

जब उन्हें अपनी शक्ति के कार्यकलापों के विषय में सोचने की इच्छा हुई तो हृदय (मन का स्थान), मन, चन्द्रमा, संकल्प तथा सारी इच्छा का उदय हुआ।

तात्पर्य : प्रत्येक जीव का हृदय पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान के अंश-रूप, परमात्मा का निवास स्थान है। उसकी उपस्थिति के बिना जीवात्मा अपने पूर्वकर्मों के अनुसार कार्य करने की शक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। जीवात्मा इस संसार में बद्ध हैं और अपनी-अपनी प्रवृत्ति के अनुसार इस सृष्टि में प्रकट होते हैं और इनमें से प्रत्येक को परमात्मा के निर्देशन के अन्तर्गत भौतिक शक्ति द्वारा आवश्यक भौतिक शरीर प्राप्त होता है। इसकी व्याख्या *भगवद्गीता* (९.१०) में की गई है। अतः जब परमात्मा बद्धजीव के हृदय में स्थित हो जाता है, तो बद्धजीव में मन उत्पन्न होता है और वह अपने कार्य के प्रति उसी प्रकार सचेष्ट हो उठता है, जिस प्रकार नींद से जगने पर मनुष्य को अपने कार्य का भान होता है। अतः जीवात्मा में भौतिक मन तभी उत्पन्न होता है जब परमात्मा हृदय में बसता है। इसके बाद मन, इसका अधिष्ठाता देव (चन्द्रमा) और फिर मन के कार्य (सोचना, अनुभव करना तथा इच्छा करना) उत्पन्न होते हैं। मन के कार्य हृदय के प्रकट हुए बिना प्रारम्भ नहीं हो सकते और हृदय तभी प्रकट होता है जब भगवान् भौतिक सृष्टि के कार्यकलाप देखने की इच्छा करते हैं।

त्वङ्मर्म-मांस-रुधिर-मेदो-मज्जास्थि-धातवः ।

भूम्यप्तेजोमयाः सप्त प्राणो व्योमाम्बु-वायुभिः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

त्वक्—चमड़ी के ऊपर पतली परत; चर्म—चमड़ी; मांस—मांस; रुधिर—रक्त; मेदः—चर्बी; मज्जा—मज्जा; अस्थि—हड्डी; धातवः—तत्त्व; भूमि—पृथ्वी; अप्—जल; तेजः—अग्नि; मयाः—प्रधानतः; सप्त—सात; प्राणः—श्वास; व्योम—आकाश; अम्बु—जल; वायुभिः—वायु से।

त्वचा, चर्म, मांस, रक्त, मेदा, मज्जा तथा अस्थि—शरीर के ये सात तत्त्व पृथ्वी, जल तथा अग्नि से बने हैं जबकि प्राण की उत्पत्ति आकाश, जल तथा वायु से हुई है।

तात्पर्य : सम्पूर्ण भौतिक जगत की रचना प्रमुखतः पृथ्वी, जल तथा अग्नि इन तीन तत्त्वों से हुई है, किन्तु प्राण की रचना आकाश, वायु तथा जल से हुई। इस प्रकार स्थूल तथा सूक्ष्म भौतिक सृष्टि

दोनों में ही जल उभयनिष्ठ तत्त्व है और भौतिक सृष्टि में अत्यधिक विशिष्ट तथा आवश्यक होने के कारण जल इन पंचतत्त्वों में प्रमुख है। इस तरह भौतिक शरीर पाँच तत्त्वों से बना है, जबकि स्थूल सृष्टि केवल तीन तत्त्वों—पृथ्वी, जल तथा अग्नि—से बनी है। स्पर्श का अनुभव चमड़ी पर पतली परत (त्वचा) के कारण होता है और अस्थि पत्थर के समान कठोर होती है। श्वास (प्राण-वायु) आकाश, वायु तथा जल से उत्पन्न है, अतः शुद्ध वायु, नियमित स्नान तथा रहने के लिए प्रचुर स्थान स्वस्थ जीवन के लिए अनुकूल होते हैं। स्थूल शरीर को ठीक से बनाए रखने के लिए पृथ्वी से उत्पन्न अन्न तथा शाक के साथ ही शुद्ध जल तथा उष्मा लाभप्रद हैं।

गुणात्मकानीन्द्रियाणि भूतादि-प्रभवा गुणाः ।

मनः सर्व-विकारात्मा बुद्धिर्विज्ञान-रूपिणी ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

गुण-आत्मकानि—गुणों से लिप्त; इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ; भूत-आदि—अहंकार; प्रभवाः—से प्रभावित; गुणाः—प्राकृतिक गुण; मनः—मन; सर्व—समस्त; विकार—तनाव (सुख तथा दुख); आत्मा—रूप; बुद्धिः—बुद्धि; विज्ञान—तर्क-वितर्क; रूपिणी—के रूप वाली।

इन्द्रियाँ प्रकृति के गुणों से जुड़ी होती हैं और भौतिक प्रकृति के ये गुण मिथ्या अहंकार से जनित हैं। मन पर समस्त प्रकार के भौतिक अनुभवों (सुख-दुख) का प्रभाव पड़ता है और बुद्धि मन के तर्क-वितर्क स्वरूप है।

तात्पर्य : भौतिक प्रकृति से भ्रमित होकर जीवात्मा मिथ्या अहंकार करता है। अधिक स्पष्ट रूप में कहना चाहें तो जीवात्मा भौतिक शरीर के भीतर बँध जाने पर तुरन्त देहात्मक सम्बन्ध बना लेता है और आत्मा के रूप में अपनी स्थिति को भुला देता है। यह अहंकार भौतिक प्रकृति के विभिन्न गुणों से मिल-जुल जाता है और इस प्रकार इन्द्रियों का गुणों की ओर लगाव हो जाता है। मन वह यंत्र है, जिससे विभिन्न भौतिक अनुभवों का आभास होता है, किन्तु बुद्धि तर्कशील होती है और हर वस्तु को अच्छे के लिए बदल सकती है। अतः बुद्धिमान मनुष्य बुद्धि के सदुपयोग से इस संसार के मोह से मोक्ष प्राप्त कर सकता है। बुद्धिमान मनुष्य इस संसार की विषम परिस्थिति का पता लगा सकता है और इस खोज में लग जाता है कि वह कौन है, उसे तरह-तरह के कष्ट क्यों मिलते हैं, इनसे कैसे छुटकारा पाया जा सकता है और इस प्रकार अच्छी संगति से बुद्धिमान मनुष्य आत्म-साक्षात्कार के

जीवन की ओर उन्मुख हो सकता है। अतः यह सलाह दी जाती है कि बुद्धिमान मनुष्य उन ऋषियों-मुनियों की संगति करे जो मुक्ति के पथ पर अग्रसर हैं। ऐसी संगति से वह ऐसे उपदेश प्राप्त कर सकता है जिनसे बद्धजीव की पदार्थ के प्रति आसक्ति कम हो सकती है। इस प्रकार बुद्धिमान व्यक्ति धीरे-धीरे पदार्थ के मोह तथा अहंकार से छूटकर सच्चिदानन्दमय जीवन को प्राप्त होता है।

एतद्भगवतो रूपं स्थूलं ते व्याहृतं मया ।

महादिभिश्चावरणैरष्टभिर्बहिरावृतम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

एतत्—ये सब; भगवतः—भगवान् के; रूपम्—रूप; स्थूलम्—स्थूल; ते—तुमको; व्याहृतम्—बतलाया गया; मया—मेरे द्वारा; मही—लोक; आदिभिः—इत्यादि; च—निरन्तर; अवरणैः—आवरणों से; अष्टभिः—आठ; बहिः—बाह्य; आवृतम्—ढका हुआ।

इस तरह भगवान् का बाह्य रूप अन्य लोकों की ही तरह स्थूल रूपों से घिरा हुआ है, जिनका वर्णन मैं तुमसे पहले ही कर चुका हूँ।

तात्पर्य : जैसाकि भगवद्गीता (७.४) में कहा गया है, भगवान् की वियुक्त भौतिक शक्ति आठ प्रकार के भौतिक आवरणों—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहंकार—से घिरी है। ये सारे आवरण श्रीभगवान् की बाह्यशक्ति के रूप में उद्भूत हैं। ये सूर्य के चारों ओर बादलों के आवरण तुल्य हैं। यद्यपि बादल सूर्य के ही द्वारा सृजित हैं, किन्तु वास्तव में आँखों के सामने इसके आने से सूर्य नहीं दिखता। सूर्य बादलों से नहीं ढका जा सकता, क्योंकि बादल आकाश में कुछ सौ मीलों तक ही फैले रह सकते हैं, किन्तु सूर्य लाखों मील से भी अधिक विशाल है। अतः सौ मील का आवरण लाखों मील को नहीं ढक सकता। अतएव भगवान् की ही कोई एक शक्ति पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को आच्छादित नहीं कर सकती। किन्तु ये शक्तियाँ भगवान् द्वारा उन बद्धजीवों की आँखें बन्द करने के लिए हैं, जो प्रकृति पर अपना अधिकार जताना चाहते हैं। वास्तव में बद्धजीव पदार्थ के मोहजन्य बादल से आच्छादित रहते हैं और यह भगवान् के ऊपर है कि वे उन्हें दिखें या नहीं। चूँकि बद्धजीवों के दिव्य दृष्टि नहीं होती और वे भगवान् को देख नहीं सकते, अतः वे भगवान् के अस्तित्व तथा उनके दिव्य रूप को नकारते हैं। अल्पज्ञानी पुरुष विराट भौतिक रूप का आवरण स्वीकार कर लेते हैं। यह कैसे होता है इसकी व्याख्या अगले श्लोक में की गई है।

अतः परं सूक्ष्मतममव्यक्तं निर्विशेषणम् ।

अनादि-मध्य-निधनं नित्यं वाङ्मनसः परम् ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

अतः—अतः; परम्—दिव्य; सूक्ष्मतमम्—सूक्ष्म से भी सूक्ष्म; अव्यक्तम्—अप्रकट; निर्विशेषणम्—बिना भौतिक रूप के; अनादि—आदिरहित; मध्य—माध्यमिक अवस्था के बिना; निधनम्—अन्तरहित; नित्यम्—शाश्वत; वाक्—शब्द; मनसः—मन का; परम्—दिव्य ।

अतः इस (स्थूल संसार) से परे दिव्य संसार है, जो सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर है। न तो इसका आदि है, न मध्य और न अन्त, अतः यह व्याख्या अथवा चिन्तन की सीमाओं के परे है और भौतिक बोध से भिन्न है।

तात्पर्य : परमेश्वर का स्थूल बाह्य रूप बीच-बीच में प्रकट होता रहता है, अतः यह रूप शाश्वत रूप नहीं हैं जिसका न तो आदि है, न मध्य और न कोई अन्त। जिस वस्तु का आदि, मध्य और अन्त होता है, वह भौतिक कहलाती है। इस भौतिक जगत का प्रारम्भ भगवान् से हुआ, अतः जगत के प्रारम्भ के पूर्व भगवान् निश्चय ही सूक्ष्म से सूक्ष्म दिव्यरूप में रहते हैं। भौतिक जगत का आकाश सूक्ष्मतम माना जाता है। इससे सूक्ष्म मन, बुद्धि तथा मिथ्या अहंकार होते हैं। किन्तु आठों बाह्य आवरणों को परम सत्य के बाह्य आवरणों के रूप में बताया जाता है, अतः परम सत्य भौतिक अवधारणाओं की व्याख्या एवं कल्पना से परे हैं। वे निश्चित ही सभी भौतिक चिन्तन से परे हैं। यह निर्विशेषणम् कहलाता है, किन्तु निर्विशेषणम् को दिव्य गुणों से विहीन समझने की गलती नहीं करनी चाहिए। विशेषणम् का अर्थ है गुण, अतः निर् के जुड़ने से निर्विशेषणम् का अर्थ भौतिक गुणों या विविधताओं से रहित हो जाता है। इस निषेधात्मक पद में चार दिव्य गुण हैं—अप्रकट, दिव्य, शाश्वत तथा मन एवं वाणी से परे। शब्दों की सीमाओं से परे का अर्थ है भौतिक बोध का निषेध। जब तक मनुष्य दिव्य पद को प्राप्त नहीं होता वह भगवान् के दिव्य रूप को नहीं जान सकता।

अमुनी भगवद्रूपे मया ते ह्यनुवर्णिते ।

उभे अपि न गृह्णन्ति माया-सृष्टे विपश्चितः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

अमुनी—ये सब; भगवत्—श्रीभगवान् को; रूपे—रूपों में; मया—मेरे द्वारा; ते—तुमको; हि—निश्चय ही; अनुवर्णिते—क्रमशः वर्णित; उभे—दोनों; अपि—भी; न—कभी नहीं; गृह्णन्ति—स्वीकार करता है; माया—बाह्य; सृष्टे—इस प्रकार से प्रकट होकर; विपः-चितः—जानने वाला विद्वान्।

मैंने तुमसे भौतिक दृष्टिकोण से भगवान् के जिन दो रूपों का ऊपर वर्णन किया है, उनमें से कोई भी भगवान् को जानने वाले शुद्ध भक्तों द्वारा स्वीकार नहीं किया जाता।

तात्पर्य : जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, निर्विशेषवादी भगवान् को दो भिन्न विधियों से मानते हैं। एक ओर वे विश्वरूप भगवान् की पूजा करते हैं और दूसरी ओर वे भगवान् के अव्यक्त, अप्रकट सूक्ष्म रूप का चिन्तन करते हैं। “सर्वेश्वरवाद” तथा “एकेश्वरवाद” के सिद्धान्त क्रमशः भगवान् के स्थूल तथा सूक्ष्म रूपों के लिए व्यवहृत हैं, किन्तु भगवद्भक्त इन दोनों सिद्धान्तों का अस्वीकार करते हैं, क्योंकि उन्हें वास्तविक स्थिति का बोध होता है। इसका स्पष्ट उल्लेख *भगवद्गीता* के ग्यारहवें अध्याय (११.४५) में हुआ है जहाँ अर्जुन द्वारा परम भगवान् श्रीकृष्ण के विश्वरूप का अनुभव अंकित है—

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।

तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥

भगवान् के शुद्ध भक्त के रूप में अर्जुन ने इसके पूर्व कभी भी भगवान् के विश्वरूप को नहीं देखा था, किन्तु जब उसने उसे देखा तो उसकी उत्सुकता शान्त हो गई। लेकिन वह एक शुद्ध भक्त के रूप में अपने लगाव के कारण भगवान् के इस प्रकार के रूप को देखकर प्रसन्न नहीं हुआ। वह भगवान् के विराट रूप को देखकर भयभीत हुआ, अतः उसने भगवान् से अपना चतुर्भुज नारायण रूप या कृष्ण रूप धारण करने के लिए प्रार्थना की, क्योंकि वह उसी से प्रसन्न हो सकता था। निस्सन्देह भगवान् अपने को अनेक रूपों में प्रकट करने की परम शक्ति से पूर्ण हैं, किन्तु भक्तजन तो भगवान् के धाम त्रिपाद-विभूति में शाश्वत दिखाई पड़ने वाले रूप में रुचि रखते हैं। त्रिपाद विभूति धाम में भगवान् दो रूपों में प्रकट होते हैं—चतुर्भुज रूप अथवा दो भुजाओं वाला रूप। किन्तु भौतिक विश्व में उनका जो विश्वरूप प्रकट है उसमें अनेक भुजाएँ होती हैं और अनेक आयाम होते हैं और सभी कुछ असीम आकार के होते हैं। भगवान् के शुद्ध भक्त वैकुण्ठ रूप में नारायण या श्रीकृष्ण की पूजा करते हैं। कभी-कभी वे ही वैकुण्ठ रूप इस भौतिक जगत में उन्हीं की कृपा से श्रीराम, श्रीकृष्ण, श्रीनृसिंहदेव के रूप में प्रकट

होते हैं और इसलिए भक्तजन इनकी भी पूजा करते हैं। सामान्यतया भौतिक जगत में जो भौतिक रूप प्रकट होते हैं, वे वैकुण्ठ लोक में नहीं पाये जाते, अतः शुद्ध भक्त इन रूपों को नहीं मानते। भक्तजन प्रारम्भ से ही वैकुण्ठ लोक में स्थित भगवान् के शाश्वत रूपों को पूजते आ रहे हैं। अभक्त निर्विशेषवादी भगवान् के भौतिक रूपों की कल्पना करते हैं और अन्ततः भगवान् की निर्विशेष ब्रह्मज्योति में लीन होते हैं, किन्तु भगवान् के भक्त तो प्रारम्भिक तथा मुक्ति की अवस्था इन दोनों ही स्थितियों में सदैव पूजा करने वाले हैं। शुद्ध भक्त की पूजा कभी रुकती नहीं, किन्तु निर्विशेषवादी की पूजा ब्रह्मज्योति में उसके लीन होने पर और मुक्ति मिलने पर रुक जाती है। इसीलिए शुद्ध भक्तों को *विपश्चित* अर्थात् विद्वान् कहा गया है, जिन्हें भगवान् का पूरा-पूरा ज्ञान रहता है।

स वाच्य-वाचकतया भगवान् ब्रह्म-रूप-धृक् ।

नाम-रूप-क्रिया धत्ते सकर्माकर्मकः परः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; वाच्य—अपने रूपों तथा कार्यों से; वाचकतया—अपने दिव्य गुणों एवं परिवेश से; भगवान्—भगवान्; ब्रह्म—परम; रूप-धृक्—दृश्य रूपों को ग्रहण करके; नाम—नाम; रूप—रूप, आकार; क्रिया—लीलाएँ; धत्ते—स्वीकार करता है; स-कर्म—कार्य में संलग्न; अकर्मकः—प्रभावित हुए बिना; परः—दिव्यातीत।

अपने दिव्य नाम, गुण, लीलाओं, परिवेश तथा विभिन्नताओं के कारण भगवान् अपने आपको दिव्य रूप में प्रकट करते हैं। यद्यपि इन समस्त कार्यकलापों का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, किन्तु वे व्यस्त से प्रतीत होते हैं।

तात्पर्य : जब भी भौतिक सृष्टि करने की आवश्यकता होती है, तो श्रीभगवान् सृष्टि, पालन तथा संहार के लिए इस संसार में विविध रूप धारण करते हैं। मनुष्य को इतना बुद्धिमान तो होना ही चाहिए कि वह उनकी लीलाओं को सही-सही जान सके और यह न सोच बैठे कि वे भौतिक प्रकृति द्वारा निर्मित सांसारिक रूप धारण करके इस जगत में अवतरित होते हैं। भौतिक प्रकृति से गृहीत कोई भी रूप इस संसार में किए गए प्रत्येक कार्य से अनुराग रखता है। जो बद्धजीव किसी कार्य के प्रयोजन से भौतिक रूप ग्रहण करता है उस पर भौतिक नियम लागू होते हैं। किन्तु इस श्लोक में स्पष्ट कहा गया है कि यद्यपि भगवान् के रूप तथा कार्य बद्धजीव जैसे होते हैं, किन्तु वे अलौकिक होते हैं और बद्धजीव के लिए असम्भव होते हैं। वे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ऐसे कार्यों से सदैव अप्रभावित रहते हैं।

भगवद्गीता (४.१४) में भगवान् कहते हैं—

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।

इति मां योऽभिजानाति कर्माभिर्न स बध्यते ॥

भगवान् कभी न तो उन कर्मों द्वारा बँधते हैं, जिन्हें वे अपने विभिन्न अवतारों के द्वारा सम्पन्न करते हैं, न ही उन्हें सकाम कर्म द्वारा सफलता प्राप्त करने की आकांक्षा रहती है। भगवान् धन, बल, यश, सौंदर्य, ज्ञान तथा त्याग की विविध शक्तियों से पूरित हैं, अतः बद्धजीव के समान उन्हें परिश्रम करने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। अतः ऐसा बुद्धिमान पुरुष जो भगवान् के दिव्य कार्यों तथा बद्धजीवों के कार्यों में भेद कर सकता है, वह भी कर्मफल में नहीं बँधता। ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव के रूप में भगवान् प्रकृति के त्रिगुणों का सञ्चालन करने वाले हैं। विष्णु से ब्रह्मा और ब्रह्मा से शिव उत्पन्न हैं। कभी-कभी ब्रह्मा विष्णु के पृथक् अंश होते हैं, तो कभी ब्रह्मा स्वयं विष्णु होते हैं। इस प्रकार ब्रह्मा ब्रह्माण्ड भर की समस्त योनियों को उत्पन्न करते हैं, जिसका अर्थ होता है कि भगवान् सम्पूर्ण सृष्टि को या तो स्वयं उत्पन्न करते हैं या फिर अपने अधिकृत सहायक के माध्यम से करते हैं।

प्रजा-पतीन्मनून् देवानृषीन् पितृ-गणान् पृथक् ।

सिद्ध-चारण-गन्धर्वान् विद्याधासुर-गुह्यकान् ॥ ३७ ॥

किन्नराप्सरसो नागान् सर्पान् किम्पुरुषान्नरान् ।

मातृ रक्षः-पिशाचांश्च प्रेत-भूत-विनायकान् ॥ ३८ ॥

कूष्माण्डोन्माद-वेतालान् यातुधानान् ग्रहानपि ।

खगान्मृगान् पशून् वृक्षान् गिरीन् नृप सरीसृपान् ॥ ३९ ॥

द्वि-विधाश्चतुर्विधा येऽन्ये जल-स्थल-नभौकसः ।

कुशलाकुशला मिश्राः कर्मणां गतयस्त्विमाः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

प्रजा-पतीन्—ब्रह्मा तथा उनके पुत्र, यथा दक्ष इत्यादि; मनून्—वैवस्वत मनु जैसे समय-समय पर होने वाले प्रधान; देवान्—यथा इन्द्र, चन्द्र तथा वरुण; ऋषीन्—यथा भृगु तथा वसिष्ठ; पितृ-गणान्—पितर लोक के निवासी; पृथक्—अलग से; सिद्ध—सिद्ध लोक के वासी; चारण—चारण लोक के वासी; गन्धर्वान्—गन्धर्व लोक के प्राणी; विद्याध—विद्याधर लोक के वासी; असुर—नास्तिक लोग; गुह्यकान्—यक्ष लोक के वासी; किन्नर—किन्नर लोक के वासी; अप्सरसः—अप्सरा लोक की सुन्दरियाँ; नागान्—नागलोक के नागतुल्य वासी; सर्पान्—सर्प-लोक के वासी; किम्पुरुषान्—किम्पुरुष लोक के बन्दर जैसे वासी; नरान्—पृथ्वी के वासी; मातृ—मातृ लोक के वासी; रक्षः—रक्षसी लोक के वासी; पिशाचान्—पिशाच लोक के वासी; च—भी; प्रेत—प्रेत लोक के वासी; भूत—भूत आत्माएँ; विनायकान्—पिशाच, विनायक; कूष्माण्ड—मायाजाल; उन्माद—पागल; वेतालान्—वेताल, जिन्न; यातुधानान्—भूत विशेष; ग्रहान्—शुभ तथा अशुभ नक्षत्र; अपि—भी; खगान्—पक्षी; मृगान्—जंगली पशु; पशून्—घरेलू पशु; वृक्षान्—भूत; गिरीन्—पर्वत; नृप—हे राजन्; सरीसृपान्—रेंगने वाले जीव;

द्वि-विधा:—जड़ तथा चेतन प्राणी; चतुः-विधा:—भ्रूण, अंड, स्वेदज तथा बीज से उत्पन्न चार प्रकार के प्राणी; ये—अन्य; अन्ये—समस्त; जल—पानी; स्थल—भूमि; नभ-ओकस:—पक्षी; कुशल—सुखी; अकुशला:—दुखी; मिश्रा:—सुखी-दुखी दोनों; कर्मणाम्—अपने पूर्व कर्मों के अनुसार; गतयः—गति, फल; तु—लेकिन; इमा:—वे सब।

हे राजन्, मुझसे यह जान लो कि सभी जीवात्माएँ अपने विपत कर्मों के अनुसार परमेश्वर द्वारा उत्पन्न किए जाते हैं। इसमें ब्रह्मा तथा उनके दक्ष जैसे पुत्र, वैवस्वत मनु जैसे सामयिक प्रधान, इन्द्र, चन्द्र तथा वरुण जैसे देवता, भृगु, व्यास, वसिष्ठ जैसे महर्षि, पितृलोक तथा सिद्धलोक के वासी, चारण, गन्धर्व, विद्याधर, असुर, यक्ष, किन्नर तथा देवदूत, नाग, बन्दर जैसे किम्पुरुष, मनुष्य, मातृलोक के वासी, असुर, पिशाच, भूत-प्रेत, उन्मादी, शुभ-अशुभ नक्षत्र, विनायक, जंगली पशु, पक्षी, घरेलू पशु, सरीसृप, पर्वत, जड़ तथा चेतन जीव, जरायुज, अण्डज, स्वेदज तथा उद्भिज जीव तथा अन्य समस्त जल, स्थल या आकाश के सुखी, दुखी अथवा मिश्रित सुखी-दुखी जीव सम्मिलित हैं। ये सभी अपने पूर्व कर्मों के अनुसार परमेश्वर द्वारा सृजित होते हैं।

तात्पर्य : इस सूची में जीवात्माओं की विविध किस्में बताई गई हैं। सर्वोच्च लोक से लेकर ब्रह्माण्ड के निम्नतम लोक के सारे जीवों की विभिन्न योनियाँ सर्वशक्तिमान पिता विष्णु द्वारा उत्पन्न की गई हैं। अतः कोई भी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से स्वतन्त्र नहीं है। इसीलिए भगवान् ने *भगवद्गीता* (१४.४) में निम्नलिखित श्लोक में सभी जीवात्माओं को अपनी संतति कहा है—

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।

तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥

प्रकृति की तुलना माता से की गई है। यद्यपि प्रत्येक जीव अपनी माँ से उत्पन्न होता देखा जाता है, किन्तु सत्य तो यह है कि ऐसे जन्म का वास्तविक कारण माता नहीं है। जन्म का वास्तविक कारण पिता होता है। पिता के वीर्य के बिना शिशु को माता जन्म नहीं दे सकती। अतः असंख्य ब्रह्माण्डों में विभिन्न योनियों तथा स्थितियों में सभी जीव शक्तिमान पिता, परमेश्वर के बीज से उत्पन्न होते हैं। केवल अल्पज्ञानी ही इन्हें भौतिक प्रकृति से जन्मा हुआ मानते हैं। परमेश्वर की बहिरंगा शक्ति के वशीभूत होकर ब्रह्मा से लेकर एक क्षुद्र चींटी तक सारे जीव अपने पूर्वकर्मों के अनुसार विभिन्न शरीर धारण करते हैं।

भौतिक प्रकृति भगवान् की शक्तियों में से एक है (भगवद्गीता ७.४) । भौतिक प्रकृति परा प्रकृति अर्थात् जीवात्मा की तुलना में निम्नतर होती है । भगवान् की परा प्रकृति तथा अपरा प्रकृति संयोग करके सारे सांसारिक व्यापारों को प्रकट करती हैं ।

कुछ जीवात्माएँ अपेक्षतया सुखी हैं, तो कुछ दुःखमय स्थितियों में जीवन बिताती हैं । किन्तु वास्तव में इनमें से कोई भी भौतिक बद्ध जीवन में सुखी नहीं है । बन्दी जीवन में कोई सुखी नहीं रहता, भले ही कोई प्रथम श्रेणी का कैदी हो या तृतीय श्रेणी का कैदी । बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि वह तृतीय श्रेणी के बन्दी जीवन से प्रथम श्रेणी के बन्द जीवन में उन्नत किए जाने की अपेक्षा बन्दीगृह से ही मुक्त होने का प्रयत्न करे । किसी की प्रथम श्रेणी के कैदी में प्रोन्नति हो सकती है, किन्तु अगली अवधि में उसे तृतीय श्रेणी में फिर जाना पड़ सकता है । मनुष्य को चाहिए कि वह बन्दी जीवन से मुक्त होने और भगवान् के धाम जाने का प्रयास करे । समस्त प्रकार के जीवों के लिए यही असली गन्तव्य है ।

सत्त्वं रजस्तम इति तिस्रः सुर-नृ-नारकाः ।

तत्राप्येकैकशो राजन् भिद्यन्ते गतयस्त्रिधा ।

यदैकैकतरोऽन्याभ्यां स्व-भाव उपहन्यते ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

सत्त्वम्—सतोगुण; रजः—रजोगुण; तमः—तमोगुण; इति—इस प्रकार; तिस्रः—तीन; सुर—देवता; नृ—मनुष्य; नारकाः—नारकीय अवस्था में पड़ा हुआ; तत्र अपि—वहाँ भी; एकैकशः—दूसरा; राजन्—हे राजा; भिद्यन्ते—में बाँट देते हैं; गतयः—गतियाँ; त्रिधा—तीन; यदा—उस समय, जब; एकैकतरः—एक दूसरे के प्रति; अन्याभ्याम्—दूसरे से; स्व-भावः—स्वभाव, आदत; उपहन्यते—प्राप्त करता है ।

प्रकृति के विभिन्न गुण—सतो गुण, रजो गुण तथा तमो गुणों—के अनुसार विभिन्न प्रकार के प्राणी होते हैं, जो देवता, मनुष्य तथा नारकीय जीव कहलाते हैं । हे राजन्, यही नहीं, जब कोई एक गुण अन्य दो गुणों से मिलता है, तो वह तीन में विभक्त होता है और इस प्रकार प्रत्येक प्राणी अन्य गुणों से प्रभावित होता है और उसकी आदतों को अर्जित कर लेता है ।

तात्पर्य : अलग-अलग प्राणी किसी एक विशेष गुण के द्वारा संचालित होते हैं, किन्तु इस के साथ अन्य दो गुणों का भी उन पर प्रभाव पड़ सकता है । सामान्य रूप से सभी बद्धजीव भौतिक बन्धन के कारण रजोगुण से प्रभावित होते हैं, क्योंकि प्रत्येक जीव अपनी इच्छापूर्ति के लिए प्रकृति पर प्रभुत्व जताना चाहता है । किन्तु पृथक् से रजोगुण होने पर भी अन्य गुणों के संसर्ग में होने से उनके द्वारा

प्रभावित हो जाने की संभावना सदैव बनी रहती है। यदि कोई अच्छी संगति करता है, तो वह सतोगुणी हो सकता है और यदि कुसंगति करता है, तो तमोगुणी बन सकता है। लेकिन कुछ भी एक ही तरह से नहीं घटता है। मनुष्य अच्छी या बुरी संगति से अपना स्वभाव बदल सकता है, अतः अच्छे तथा बुरे में भेद कर सकने के लिए बुद्धिमान होना आवश्यक है। सर्वोत्तम संगति तो भगवान् के भक्तों की सेवा होती है और उस संगति से मनुष्य भगवान् के शुद्ध भक्तों की कृपा से सर्वाधिक योग्य व्यक्ति बन सकता है। जैसाकि हम श्रील नारद मुनि के जीवन में देख चुके हैं, वे केवल शुद्ध भगवद्भक्तों की संगति से सर्वाधिक योग्य बन सके। वे जन्म से एक दासी के पुत्र थे, वे अपने पिता तक को नहीं जानते थे और न उनमें न्यूनतम शैक्षिक योग्यता ही थी। किन्तु केवल भक्तों की संगति करने तथा उनका ही बचा-खुचा खाना खाने से उनमें उत्तरोत्तर भक्तों के दिव्य गुण आते गये। ऐसी संगति करने के कारण उनमें भगवान् की दिव्य महिमा को सुनने और कीर्तन करने की प्रवृत्ति उभरती गई और चूँकि भगवान् की महिमा भगवान् से अभिन्न है, अतः शब्दोच्चारण (कीर्तन) के कारण उन्हें भगवान् की प्रत्यक्ष संगति प्राप्त हो सकी। इसी तरह अजामिल का भी जीवन (छठे स्कंध में) है, जो एक ब्राह्मण का पुत्र था और जिसे ब्राह्मण के कर्तव्यों के पालन की समुचित शिक्षा दी गई थी, किन्तु इतने पर भी वेश्या के कुसंग ने उसे चंडाल अर्थात् (मानव जाति की) सबसे अधम स्थिति पर पहुँचा दिया। अतः मुक्तिद्वार खोलने के लिए भागवत सदैव महत् संगति की शिक्षा देता है। ऐसे पुरुषों की संगति करना जो इस भौतिक संसार पर अधिकार जताना चाहते हैं नरक के घोर अंधकारपूर्ण भाग में प्रवेश करना होता है। मनुष्य को चाहिए कि महापुरुष की संगति द्वारा अपने को ऊपर उठाए। जीवन-सिद्धि का यही मार्ग है।

स एवेदं जगद्धाता भगवान् धर्म-रूप-धृक् ।

पुष्पाति स्थापयन् विश्वं तिर्यङ्नर-सुरादिभिः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; एव—निश्चय ही; इदम्—यह; जगत्-धाता—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के पालक; भगवान्—भगवान्; धर्म-रूप-धृक्—धर्म का रूप धारण करते हुए; पुष्पाति—पालन करता है; स्थापयन्—स्थापित करने के पश्चात्; विश्वम्—ब्रह्माण्ड को; तिर्यक्—मनुष्य से निम्न श्रेणी के जीव; नर—मनुष्य; सुर-आदिभिः—देवता रूप से।

वे भगवान् ब्रह्माण्ड में सबके पालक रूप में सृष्टि की स्थापना करके विभिन्न अवतारों में प्रकट होते हैं और मनुष्यों, अमानवों तथा देवताओं में से समस्त बद्धजीवों का उद्धार करते हैं।

तात्पर्य : पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् विष्णु जीवों के विभिन्न समाजों में उनको माया के चंगुल से उबारने हेतु अवतरित होते हैं और भगवान् के ऐसे कार्यकलाप केवल मानव समाज तक ही सीमित नहीं रहते। वे एक मछली, शूकर, वृक्ष तथा अन्य अनेक रूपों में अवतरित होते हैं, किन्तु अल्पज्ञानी पुरुष भगवान् को न जानने के कारण उनका उपहास करते हैं चाहे वे मानव समाज में मनुष्य रूप में ही क्यों न हों। अतः भगवान् *भगवद्गीता* (९.११) में कहते हैं—

अवजान्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।

परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥

जैसाकि हम पिछले श्लोकों में बता चुके हैं, निष्कर्ष यह निकलता है कि भगवान् कभी भी भौतिक सृष्टि की उत्पत्ति नहीं होते। उनकी दिव्य स्थिति सदैव अपरिवर्तित रहती है। वे ज्ञान तथा आनन्द के शाश्वत रूप हैं और अपनी विभिन्न शक्तियों द्वारा अपनी सर्वशक्तिमय इच्छा की पूर्ति करते हैं। इस प्रकार वे अपने किसी कार्य के फल को नहीं भोगते। वे कार्य-कारण के ऐसी सभी अवधारणों से परे हैं। यदि वे जगत में दिखते भी हैं, तो यह प्रदर्शन केवल अन्तरंगा शक्तियों का होता है, क्योंकि वे इस भौतिक जगत की अच्छी-बुरी अवधारणाओं से ऊपर हैं। इस जगत में मछली या शूकर को मनुष्य से निम्न माना जा सकता है, किन्तु जब भगवान् मछली या शूकर रूप में प्रकट होते हैं, तो वे भौतिक दृष्टि से इनमें से एक भी नहीं होते। यह उनकी अहैतुकी कृपा है कि वे प्रत्येक समाज तथा योनि में प्रकट होते हैं, किन्तु उन्हें उनमें से एक कभी नहीं माना जा सकता। भौतिक संसार की अवधारणाएँ जैसे अच्छे तथा बुरे, निम्न तथा उच्च, महत्त्वपूर्ण तथा नगण्य जैसी धारणाएँ भौतिक शक्ति के अनुमान होते हैं और परमेश्वर ऐसी सभी अवधारणाओं से परे होते हैं। *परम भावम्* शब्द अर्थात् दिव्य स्वभाव की तुलना कभी भी भौतिक धारणा से नहीं हो सकती। मनुष्य को यह नहीं भूलना चाहिए कि भगवान् की शक्तियाँ सदैव एकसी रहती हैं, कभी घटती नहीं, क्योंकि भगवान् निम्न पशुओं का रूप धारण करते रहते हैं। श्रीराम, श्रीकृष्ण तथा मछली, शूकर रूप में उनके अवतारों में कोई अन्तर नहीं होता। वे सर्वव्यापी होने के साथ ही साथ किसी एक तथा प्रत्येक स्थान में अन्तर्यामी हैं। किन्तु अल्पज्ञानी मनुष्य भगवान् के *परं भावम्* के अभाव में यह नहीं समझ पाते कि भगवान् ने किस प्रकार मछली या मनुष्य

का रूप धारण किया होगा। हर व्यक्ति अपने ज्ञान के मानदण्ड के अनुसार प्रत्येक वस्तु की तुलना करता है जैसे कोई कूपमण्डूक समुद्र को कुएँ के समान समझता है। कूपमण्डूक कभी समुद्र के विषय में सोच भी नहीं पाता और जब ऐसे मण्डूक को समुद्र की विशालता का पता चलता है, तो उसकी बुद्धि में यही सूझता है कि समुद्र कूप से थोड़ा ही बड़ा है। इस तरह जो ईश्वर के दिव्य विज्ञान को नहीं जानता वह मुश्किल से समझ पाता है कि भगवान् विष्णु किस प्रकार जीवों के प्रत्येक समाज में समान रूप से प्रकट हो सकते हैं।

ततः कालाग्नि-रुद्रात्मा यत्सृष्टिमिदमात्मनः ।

सन्नियच्छति तत् काले घनानीकमिवानिलः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्, अन्त में; काल—विनाश, मृत्यु; अग्नि—आग; रुद्र-आत्मा—रुद्र रूप में; यत्—जो भी; सृष्टम्—उत्पन्न; इदम्—ये सब; आत्मनः—अपने आप; सम्—पूर्णतया; नियच्छति—संहार करता है; तत् काले—युग (कल्प) के अन्त में; घन-अनीकम्—बादलों का समूह; इव—सदृश; अनिलः—वायु।

तत्पश्चात् युग के अन्त में भगवान् स्वयं संहारकर्ता रुद्र-रूप में सम्पूर्ण सृष्टि का उसी तरह संहार करेंगे जिस प्रकार वायु बादलों को हटा देती है।

तात्पर्य : इस सृष्टि की उपमा उचित रूप से बादलों से दी गई है। बादल आकाश में उत्पन्न किये जाते हैं या स्थित रहते हैं और जब उन्हें अस्त-व्यस्त किया जाता है, तो वे उसी आकाश में अनदिखे रहते हैं। इसी प्रकार यह सारी सृष्टि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् द्वारा अपने ब्रह्मा रूप में रची जाती है। उन्हीं के द्वारा विष्णु रूप में पालित होती है और यथासमय रुद्र रूप में विनष्ट कर दी जाती है। भगवद्गीता (८.१९-२०) में यह सृष्टि, इसका पालन तथा संहार अच्छे ढंग से व्याख्यायित हुए हैं—

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।

रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।

यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥

इस जगत का स्वभाव है कि पहले अच्छे ढंग से इसकी उत्पत्ति होती है, फिर यह अच्छी तरह विकसित होता है और अनेक वर्षों तक (बड़े से बड़े गणितज्ञ की गणना से परे) स्थित रहता है और

फिर ब्रह्मा की रात्रि के समय बिना किसी अवरोध के इसका पुनः विनष्ट हो जाता है। ब्रह्मा की रात्रि के बीतने पर सृष्टि रूप में यह पुनः प्रकट होकर पुनः पालन तथा संहार के चक्र से होकर गुजरता है। जो मूर्ख बद्धजीव इस क्षणिक संसार को स्थायी मानता है उसे यह बुद्धिपूर्वक सीखना चाहिए कि ऐसी सृष्टि तथा विनाश क्यों घटित होते हैं। भौतिक जगत के सकाम कर्मी परमेश्वर के भौतिक कारकों द्वारा प्रदत्त भौतिक पदार्थों तथा शक्ति से बड़े-बड़े उद्योग, बड़े-बड़े घराने, बड़े-बड़े साम्राज्य तथा अन्य बड़ी-बड़ी चीजें उत्पन्न करने के लिए अत्यन्त उत्सुक रहते हैं। बद्धजीव इन साधनों से तथा मूल्यवान् शक्ति से उत्पत्ति करके अपनी सनक तो पूरी कर लेता है, किन्तु इच्छा न होते हुए उसे इन सारी वस्तुओं को छोड़ करके बारम्बार इसी तरह उत्पत्ति करने के लिए जीवन के दूसरे पहलू में प्रविष्ट होना पड़ता है। ऐसे मूर्ख बद्धजीवों को जो इस क्षणिक संसार में अपनी शक्ति का अपव्यय करते हैं भगवान् आशान्वित करने के लिए सूचित करते हैं कि एक अन्य प्रकृति भी है, जो बार-बार सृष्टि या विनष्ट हुए बिना शाश्वत है और बद्धजीव यह समझ सकता है कि वह क्या करे और शक्ति का किस प्रकार सदुपयोग करे। परम इच्छा से यथासमय निश्चित रूप से नष्ट होने वाले पदार्थ में अपनी शक्ति को नष्ट करने के बजाय बद्धजीव को चाहिए कि इस शक्ति को भगवान् की भक्ति में लगाए जिससे वह अन्य शाश्वत प्रकृति में जा सके जहाँ न जन्म है, न मृत्यु, न सृष्टि है और न प्रलय—वरन् वहाँ ज्ञान से परिपूर्ण और असीमित आनन्द भरा शाश्वत जीवन है। इस प्रकार इस नश्वर जगत की सृष्टि और विनाश बद्धजीव को, जो क्षणिक वस्तुओं के प्रति आसक्त रहता है, सचेत करने के लिए ही होता है। इसका उद्देश्य बद्धजीव को आत्म-साक्षात्कार का अवसर प्रदान करना है, न कि इन्द्रियतृप्ति का जो सभी सकाम कर्मियों का मूल लक्ष्य होता है।

इत्थम्भावेन कथितो भगवान् भगवत्तमः ।

नेत्थम्भावेन हि परं द्रष्टुमर्हन्ति सूरयः ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

इत्थम्—इन रूपों में; भावेन—सृष्टि तथा संहार का विचार; कथितः—कहा गया; भगवान्—भगवान्; भगवत्-तमः—महान् तत्त्वज्ञानियों द्वारा; न—नहीं; इत्थम्—इसमें; भावेन—स्वरूप; हि—केवल; परम्—अत्यन्त महिमावान्; द्रष्टुम्—देखने के लिए; अर्हन्ति—योग्य होते हैं; सूरयः—परम भक्त ।

बड़े-बड़े तत्त्वज्ञानी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के कार्यकलापों का ऐसा ही वर्णन करते हैं,

किन्तु शुद्ध भक्त भावातीत दशा में ऐसे रूपों से भी बढ़कर महिमामय वस्तुएँ देखने के अधिकारी होते हैं।

तात्पर्य : भगवान् केवल अपनी विविध शक्तियों से उत्पन्न भौतिक संसार के ही स्रष्टा तथा संहारक नहीं है। वे मात्र स्रष्टा तथा संहारक से बढ़कर हैं, क्योंकि उनका एक आनन्द-रूप भी है। भगवान् का यह आनन्द रूप केवल शुद्ध भक्तों के लिए गम्य है, अन्यो के द्वारा नहीं। निर्विशेषवादी भगवान् के सर्वव्यापी प्रभाव को समझ कर ही तुष्ट हो जाता है। यह ब्रह्म-साक्षात्कार कहलाता है। निर्विशेषवादी से भी बड़ा वह योगी है, जो भगवान् को उनके अंश रूप परमात्मा के रूप में अपने हृदय में स्थित देखता है। किन्तु ऐसे शुद्ध भक्त भी हैं, जो प्रेमाभक्ति के आदान-प्रदान से भगवान् की आनन्द शक्ति में हिस्सा बँटाते हैं। भगवान् अपने शाश्वत धाम वैकुण्ठ लोक में सदैव अपने पार्षदों के साथ रहते हैं और अपने भक्तों की विभिन्न दिव्य रसों में की गई दिव्य प्रेममयी सेवा का आनन्द उठाते हैं। इस प्रकार सृष्टि के प्राकट्य की अवाधि में शुद्ध भक्त भगवान् की भक्तिमय सेवा का अभ्यास करते हैं और वे अपने को भगवान् के धाम जाने के लिए योग्य बनाकर पूरा लाभ उठाते हैं। *भगवद्गीता* (१८.५५) में इसकी पुष्टि यों हुई है—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥

शुद्ध भक्ति-मय सेवा के विकास से ही भगवान् के वास्तविक रूप को जाना जा सकता है और इस प्रकार उनकी प्रामाणिक सेवा में प्रशिक्षित हुआ जा सकता है और अन्याय रूपों में भगवान् की प्रत्यक्ष संगति में पहुँचा जा सकता। भगवान् की सर्वोच्च संगति गोलोक वृन्दावन लोक में सम्भव है जहाँ भगवान् श्रीकृष्ण गोपियों तथा अपनी चहेती सुरभि गायों के साथ रमण करते हैं। *ब्रह्म-संहिता* में श्रीकृष्ण की इस दिव्यभूमि का वर्णन आया है, जिसे भगवान् श्री चैतन्य इस विषय का अत्यन्त प्रामाणिक साहित्य मानते हैं।

नास्य कर्मणि जन्मादौ परस्यानुविधीयते ।

कर्तृत्व-प्रतिषेधार्थं माययारोपितं हि तत् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; अस्य—इस सृष्टि के; कर्मणि—कार्य में; जन्म-आदौ—सृष्टि तथा संहार; परस्य—परमेश्वर का; अनुविधीयते—इस प्रकार वर्णित है; कर्तृत्व—कौशल; प्रतिषेध-अर्थम्—निषेध करने के लिए; मायया—बहिरंगा शक्ति द्वारा; आरोपितम्—प्रकट होता है; हि—क्योंकि; तत्—स्रष्टा।

भौतिक जगत की सृष्टि तथा संहार के लिए भगवान् के द्वारा किसी प्रकार का प्रत्यक्ष कौशल नहीं किया जाता। उनके प्रत्यक्ष हस्तक्षेप के विषय में वेदों में जो कुछ वर्णित है, वह केवल इस विचार का निराकरण करने के लिए है कि भौतिक प्रकृति ही स्रष्टा है।

तात्पर्य : भौतिक जगत की सृष्टि, पालन तथा संहार के विषय में वैदिक आदेश इस प्रकार है—
यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति अर्थात् प्रत्येक वस्तु ब्रह्म द्वारा उत्पन्न है, सृजन के पश्चात् प्रत्येक वस्तु ब्रह्म द्वारा पालित है और संहार के पश्चात् ब्रह्म में संरक्षित रहती है। निपट भौतिकतावादी ब्रह्म, परमात्मा या भगवान् के विषय में कुछ भी न जानने के कारण प्रकृति को भौतिक संसार का परम कारण मानते हैं और आधुनिक विज्ञानी भी यही मत व्यक्त कर देता है कि भौतिक संसार की सभी वस्तुओं का चरम कारण प्रकृति है। सारा का सारा वैदिक साहित्य इस दृष्टिकोण का खण्डन करता है। वेदान्त दर्शन का कथन है कि समस्त सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय का मूल स्रोत—मुख ब्रह्म है और वेदान्त दर्शन के सहज भाष्य श्रीमद्भागवत का कथन है कि जन्माद्यस्य यतोऽन्वयाद् इतरताश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्...।

जड़ पदार्थ में निस्सन्देह क्रिया करने की शक्ति निहित होती है, किन्तु इसमें कोई स्वतः प्रेरणा नहीं होती। अतः श्रीमद्भागवत जन्माद्यस्य सूक्ति की टीका यह कहते हुए करता है कि अभिज्ञः तथा स्वराट् अर्थात् परब्रह्म जड़ पदार्थ नहीं है, अपितु परम चेतन और स्वतन्त्र है। अतः भौतिक जगत की सृष्टि, स्थिति तथा संहार का परम कारण जड़ पदार्थ नहीं हो सकता। ऊपर से प्रकृति ही सृष्टि, स्थिति तथा संहार का कारणस्वरूप जान पड़ती है, किन्तु यह प्रकृति परम चेतन भगवान् द्वारा सृष्टि के लिए प्रेरित होती है। वे ही समस्त सृष्टि, पालन तथा संहार का मूलाधार हैं और इसकी पुष्टि भगवद्गीता (९.१०) में हुई है—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।

हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥

प्रकृति भी भगवान् की शक्तियों में से एक है और वह भगवान् के आदेश (अध्यक्षेण) से ही कार्य कर सकती है। भगवान् जब प्रकृति पर अपनी दिव्य दृष्टि फेरते हैं तभी वह कार्य कर सकती है, जिस प्रकार पिता के संसर्ग से ही माता गर्भ धारण करती है। यद्यपि अबूझ व्यक्ति को लगता है कि माता पुत्र को जन्म देती है, किन्तु अनुभवी व्यक्ति जानता है कि पिता ही पुत्र का जन्मदाता है। अतः भौतिक प्रकृति परम पिता के सम्पर्क में आने पर ही जड़ तथा चेतन पदार्थों को जन्म देती है, स्वतन्त्र रूप से नहीं। प्रकृति को ही सृष्टि, पालन तथा संहार का कारण मानना “बकरी के गले में लटकते मांसल-तोथड़ों को स्तन मानने का तर्क जैसा है।” श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामी ने श्रीचैतन्य-चरितामृत में अजागलस्तन तर्क की व्याख्या इस प्रकार की है (इसका उल्लेख कृष्णकृपामूर्ति श्री श्रीमद् भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज ने किया है) “प्रकृति भौतिक कारण के रूप में प्रधान कहलाती है और सक्षम कारण के रूप में माया कहलाती है। किन्तु, चूँकि यह जड़ पदार्थ है, अतः यह सृष्टि का परोक्ष कारण नहीं है।” कविराज गोस्वामी इसे इस प्रकार कहते हैं—

अतएव कृष्ण मूल-जगत्-कारण।

प्रकृति—कारण यैछे अजागलस्तन ॥

(चैतन्यचरि. आदि ५.६१)

चूँकि कारणार्णवशायी विष्णु, श्रीकृष्ण के अंश हैं, अतः वे ही पदार्थ को गतिशील होने के लिए विद्युत शक्ति प्रदान करते हैं। विद्युत प्रदान करने (विद्युतीकरण) का उदाहरण उपयुक्त है। लोहे का टुकड़ा अवश्य ही अग्नि नहीं है, किन्तु जब इसे तपाकर लाल कर दिया जाता है, तो इसमें जलाने की क्षमता के कारण अग्नि का गुण आ जाता है। पदार्थ की तुलना लोहे के खंड से की जाती है और यह विष्णु की परम चेतना की चितवन से या युक्ति से विद्युतमय या लाल अंगारा हो जाता है। ऐसे विद्युतीकरण से ही विभिन्न कार्य-कारणों में पदार्थ की शक्ति परिलक्षित होती है। अतः जड़ पदार्थ न तो सक्षम है, न दृश्य जगत का कारणस्वरूप। भागवत (३.२८.४०) में श्रीकपिल देव का कथन है—

यथोल्मुकाद्विस्फुलिङ्गाद्भूमाद्वापि स्वः सम्भवात्।

अप्यात्मत्वेनाभिमताद्यथाग्निः पृथगुल्मुकात् ॥

मूल अग्नि, इसकी लपट (ज्वाला), इसकी चिनगरियाँ तथा इसका धुँआ—सभी एक हैं, क्योंकि अग्नि अग्नि होकर भी लपट से भिन्न है, लपट चिनगारी से और चिनगारी धुँए से भिन्न है। इन सब में अर्थात् लपटों, चिनगरियों और धुँए में, अग्नि की सत्ता विद्यमान है, तो भी ये सभी पृथक्-पृथक् सत्ता के साथ अलग-अलग होते हैं। दृश्य जगत धुँए के समान है, क्योंकि जब धुँआ आकाश में चला जाता है, तो वह अनेक रूप धारण करता है, जो अनेक ज्ञात एवं अज्ञात रूपों से मिलता जुलता होता है। चिनगरियाँ जीवों के तुल्य हैं और लपटें भौतिक प्रकृति (प्रधान) के समान हैं। मनुष्य को यह जान लेना चाहिए कि इनमें से प्रत्येक अपना प्रभाव केवल इसलिए दिखाती है, क्योंकि उन्हें मूल अग्नि के गुण की शक्ति प्राप्त है। अतः ये सभी—भौतिक प्रकृति, दृश्य जगत तथा जीव ईश्वर (अग्नि) की विभिन्न शक्तियाँ हैं। अतः जो लोग प्रकृति को दृश्य जगत का मूल कारण (सांख्य दर्शन के अनुसार सृष्टि का कारण प्रकृति है) मान बैठते हैं, वे अपने इस निष्कर्ष में सही नहीं हैं। भौतिक प्रकृति का भगवान् के बिना पृथक् अस्तित्व नहीं रहता है। अतः परमेश्वर को समस्त कारणों का कारण न बताना ही अजागलस्तन न्याय का तर्क है—भले ही बकरी के गलस्तन दुग्धमय लगें, किन्तु उनसे दूध निकालने के लिए प्रयास करना मूर्खता है।

अयं तु ब्रह्मणः कल्पः सविकल्प उदाहृतः ।

विधिः साधारणो यत्र सर्गाः प्राकृत-वैकृताः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

अयम्—सृष्टि तथा संहार की यह क्रिया; तु—लेकिन; ब्रह्मणः—ब्रह्मा का; कल्पः—ब्रह्मा का एक दिन; स-विकल्पः—ब्रह्माण्डों की अवधि समेत; उदाहृतः—उदाहरण के रूप में; विधिः—विधि-विधान; साधारणः—संक्षेप में; यत्र—जिसमें; सर्गाः—सृष्टि; प्राकृत—प्रकृति के विषय में; वैकृताः—विनियोग, व्यय।

यहाँ पर सारांश रूप में वर्णित सृष्टि तथा संहार का यह प्रक्रम ब्रह्मा के एक दिन (कल्प) के लिए विधि-विधान स्वरूप है। यही महत्-सृष्टि का भी नियामक-विधान है, जिसमें प्रकृति विसर्जित हो जाती है।

तात्पर्य : सृष्टि के तीन प्रकार हैं—महाकल्प, विकल्प तथा कल्प। महाकल्प में भगवान् महत् तत्त्व तथा सोलह प्रकार के सृजक तत्त्वों तथा साधनों की समस्त शक्तियों सहित कारणोदकशायी विष्णु के रूप में प्रथम पुरुष अवतार धारण करते हैं। सृजक कारणों की संख्या ग्यारह है, अवयवों की पाँच है

और ये सभी महत् अर्थात् भौतिक अहंकार के फलस्वरूप हैं। कारणोदकशायी विष्णु के रूप में भगवान् द्वारा की गई सृष्टि महाकल्प कहलाती है। ब्रह्मा की सृष्टि तथा भौतिक अवयवों का विसर्जन विकल्प कहलाता है और ब्रह्मा के जीवन के प्रत्येक दिन की सृष्टि कल्प कहलाती है। इसीलिए ब्रह्मा का एक-एक दिन कल्प कहलाता है और ब्रह्मा के दिनों में ऐसे तीस कल्प होते हैं। इसकी पुष्टि भगवद्गीता (८.१७) में भी इस प्रकार हुई है—

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्षद्ब्रह्मणो विदुः ।

रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥

उच्चतर लोकों का एक दिन तथा एक रात्रि पृथ्वी के एक पूरे वर्ष के तुल्य होते हैं। इसको आज के विज्ञानी भी मानते हैं और अन्तरिक्ष यात्रियों ने भी इसकी पुष्टि की है। इसी तरह और उच्चतर लोकों में दिन-रात्रि की अवधि स्वर्गलोकों से दीर्घतर होती है। चारों युगों की गणना स्वर्गिक पंचांगों के आधार पर की जाती है। इस प्रकार इनका काल स्वर्गलोकों की परिभाषा में बारह हजार वर्ष है। यह दिव्य युग कहलाता है। ऐसे एक हजार दिव्य युग ब्रह्मा के एक दिन के तुल्य होते हैं। ब्रह्मा के एक दिन की सृष्टि को कल्प कहते हैं। ब्रह्मा की सृष्टि विकल्प कहलाती है। जब महाविष्णु की श्वास से विकल्प सम्भव होते हैं, तो यह महाकल्प कहलाता है। इस प्रकार महाकल्प, विकल्प तथा कल्प का नियमित चक्र चलता रहता है। इसके सम्बन्ध में महाराज परीक्षित द्वारा पूछे गये प्रश्नों के जो उत्तर शुकदेव गोस्वामी ने दिये वे स्कन्द पुराण के प्रभास खण्ड में दिये गये हैं और वे इस प्रकार हैं—

प्रथमः श्वेतकल्पश्च द्वितीयो नीललोहितः ।

वामदेवस्तृतीयस्तु ततो गाथान्तरोऽपरः ॥

रौरवः पञ्चमः प्रोक्तः षष्ठः प्राण इति स्मृतः ।

सप्तमोऽथ बृहत्कल्पः कन्दर्पोऽष्टम उच्यते ॥

सद्योथ नवमः कल्प ईशानो दशमः स्मृतः ।

ध्यान एकादशः प्रोक्तास्तथा सारस्वतोऽपरः ॥

त्रयोदश उदानस्तु गरुडोऽथ चतुर्दशः ।

कौर्मः पञ्चदशो ज्ञेयः पौर्णमासी प्रजापतेः ॥

षोडशो नारसिंहस्तु समाधिस्तु ततोऽपरः ।

आग्नेयो विष्णुजः सौरः सोमकल्पस्ततोऽपरः ॥

द्वाविंशो भावनः प्रोक्तः सुपुमानिति चापरः ।

वैकुण्ठश्चार्चिषस्तद्द्वलीकल्पस्ततोऽपरः ॥

सप्तविंशोऽथ वैराजो गौरीकल्पस्तथापरः ।

माहेश्वरस्तथा प्रोक्तस्त्रिपुरो यत्र घातितः ।

पितृकल्पस्तथाचान्ते यः कुहूर्ब्रह्मणः स्मृता ॥

इस प्रकार ब्रह्मा के तीस कल्प ये हैं: (१) श्वेतकल्प, (२) नीललोहित, (३) वामदेव, (४) गाथान्तर, (५) रौरव, (६) प्राण, (७) बृहत्-कल्प, (८) कन्दर्प, (९) सद्योथ, (१०) ईशान, (११) ध्यान, (१२) सारस्वत, (१३) उदान, (१४) गरुड, (१५) कौर्म, (१६) नारसिंह, (१७) समाधि, (१८) आग्नेय, (१९) विष्णुज, (२०) सौर, (२१) सोम-कल्प, (२२) भावन, (२३) सुपुम, (२४) वैकुण्ठ, (२५) अर्चिष, (२६) वलीकल्प, (२७) वैराज, (२८) गौरीकल्प, (२९) माहेश्वर, (३०) पैतृ-कल्प।

ये तीसों ब्रह्मा के दिन हैं और उन्हें महीनों से लेकर लगातार एक सौ वर्षों तक रहना होता है, अतः हम अनुमान लगा सकते हैं कि केवल कल्पों में कितनी सृष्टियाँ होती होंगी। इसके बाद विकल्प होते हैं जिनकी उत्पत्ति महाविष्णु की श्वास से होती है जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है (*यस्यैकनिश्वासितकालम् अथावलम्ब्य जीवन्ति लोमविलजा जगदण्डनाथाः*)। सारे ब्रह्मा महाविष्णु के निश्वास अवधि के दौरान ही जीवित रहते हैं। अतः विष्णु के श्वास-निश्वास महाकल्प हैं। ये सब पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के ही कारण हैं, क्योंकि उनके अतिरिक्त सारी सृष्टियों का अन्य कोई स्वामी नहीं है।

परिमाणं च कालस्य कल्प-लक्षण-विग्रहम् ।

यथा पुरस्ताद्व्याख्यास्ये पादां कल्पमथो शृणु ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

परिमाणम्—माप; च—भी; कालस्य—समय की; कल्प—ब्रह्मा का एक दिन; लक्षण—लक्षण; विग्रहम्—रूप; यथा—जिस तरह; पुरस्तात्—इसके बाद; व्याख्यास्ये—बताया जाएगा; पाद्मम्—पाद्म नाम से; कल्पम्—एक दिन की अवधि; अथो—इस तरह; शृणु—सुनो।

हे राजन्, आगे चलकर मैं काल के स्थूल तथा सूक्ष्म रूपों की माप का उनके विशिष्ट लक्षणों सहित वर्णन करूँगा, किन्तु इस समय मैं तुमसे पाद्म कल्प के विषय में कहना चाहता हूँ।

तात्पर्य : ब्रह्मा के कल्प की वर्तमान अवधि वराह कल्प अथवा श्वेत वराह कल्प कहलाती है, क्योंकि जब विष्णु के उदर से निकले हुए कमल (पद्म) से ब्रह्मा उत्पन्न हुए तो उस समय भगवान् वराह के रूप में अवतरित हुए थे। इसीलिए वराह कल्प को पाद्मकल्प भी कहते हैं और भागवत के प्रथम भाष्यकार स्वामी श्रीधर का अनुसरण करते हुए जीव गोस्वामी तथा विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर जैसे आचार्यों ने इसकी पुष्टि की है। अतः ब्रह्मा के वराह कल्प तथा पाद्मकल्प में कोई विरोधाभास नहीं है।

शौनक उवाच

यदाह नो भवान् सूत क्षत्ता भागवतोत्तमः ।

चचार तीर्थानि भुवस्त्यक्त्वा बन्धून् सुदुस्त्यजान् ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

शौनकः उवाच—श्री शौनक मुनि ने कहा; यत्—जैसा; आह—आपने कहा; नः—हमको; भवान्—आप; सूत—हे सूत; क्षत्ता—विदुर; भागवत-उत्तमः—भगवान् का श्रेष्ठ भक्त; चचार—अभ्यास किया; तीर्थानि—तीर्थ स्थानों; भुवः—पृथ्वी पर; त्यक्त्वा—त्याग कर; बन्धून्—सम्बन्धियों को; सु-दुस्त्यजान्—त्याग कर पाना अत्यन्त कठिन।

सृष्टि के विषय में यह सब सुनने के बाद शौनक ऋषि ने सूत गोस्वामी से विदुर के विषय में पूछा, क्योंकि सूत गोस्वामी ने पहले ही उन्हें बता रखा था कि विदुर ने किस प्रकार अपने उन परिजनों को छोड़कर गृहत्याग किया था जिनको छोड़ पाना बहुत दुष्कर होता है।

तात्पर्य : शौनक आदि ऋषि विदुर के विषय में जानने के लिए अत्यन्त उत्सुक थे जिनकी भेंट विश्व के तीर्थस्थलों की यात्रा करते समय मैत्रेय ऋषि से हुई।

क्षत्तुः कौशारवेस्तस्य संवादोऽध्यात्म-संश्रितः ।

यद्वा स भगवांस्तस्मै पृष्टस्तत्त्वमुवाच ह ॥ ४९ ॥

ब्रूहि नस्तदिदं सौम्य विदुरस्य विचेष्टितम् ।

बन्धु-त्याग-निमित्तं च यथैवागतवान् पुनः ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

क्षन्तुः—विदुर की; कौशारवेः—मैत्रेय की; तस्य—उनका; संवादः—समाचार; अध्यात्म—दिव्य ज्ञान के विषय; संश्रितः—से पूरित; यत्—जो; वा—अन्य कुछ; सः—वह; भगवान्—भगवान्; तस्मै—उससे; पृष्ठः—पूछा; तत्त्वम्—सत्य; उवाच—उत्तर दिया; ह—पुराकाल में; ब्रूहि—कृपया कहें; नः—हमसे; तत्—वे विषय; इदम्—यहाँ; सौम्य—हे सौम्य; विदुरस्य—विदुर का; विचेष्टितम्—कार्यकलाप; बन्धु-त्याग—मित्रों के परित्याग का; निमित्तम्—कारण; च—भी; यथा—जिस प्रकार; एव—भी; आगतवान्—(घर) वापस आया; पुनः—फिर से ।

शौनक ऋषि ने कहा—आप हमें बताएँ कि विदुर तथा मैत्रेय के बीच अध्यात्म पर चर्चा हुई, विदुर ने क्या पूछा और मैत्रेय ने क्या उत्तर दिया था। कृपा करके हमें यह भी बताएँ कि विदुर ने अपने कुटुम्बियों को क्यों छोड़ा था और वे पुनः घर क्यों लौट आये? तीर्थस्थानों की यात्रा के समय उन्होंने जो कार्य किये उन्हें भी बतलाएँ।

तात्पर्य : श्रीसूत गोस्वामी संसार की सृष्टि तथा संहार की कथाएँ सुना रहे थे, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि शौनक आदि ऋषि अध्यात्म विषयों को, जो भौतिक विषयों से ऊँचे स्तर पर हैं, सुनने के लिए अधिक इच्छुक थे। मनुष्यों की दो श्रेणी होती हैं—एक तो वे जो स्थूल देह तथा भौतिक संसार में अधिक लिप्त रहते हैं और दूसरे वे जो उच्च स्तर पर रहने के कारण दिव्य ज्ञान के प्रति अधिक उत्सुक होते हैं। *श्रीमद्भागवत* प्रत्येक व्यक्ति के लिए, चाहे वह भौतिकतावादी हो अथवा गुणातीतवादी (अध्यात्मवादी) हो, सुविधा प्रदान करने वाला है। लोग *भागवत* से, भौतिक जगत में तथा दिव्य जगत में भगवान् के महिमामंडित कार्यकलापों को सुनकर समान लाभ उठा सकते हैं। भौतिकतावादी भौतिक नियमों एवं उनकी कार्यविधि में अधिक रुचि रखते हैं, वे भौतिक चकाचौंध में आश्चर्य देखते हैं। कभी-कभी इसी चकाचौंध में वे भगवान् की महिमा को भूल जाते हैं। उन्हें यह जान लेना चाहिए कि सारे भौतिक कार्यकलाप तथा आश्चर्य भगवान् द्वारा ही प्रेरित हैं। उद्यान में गुलाब का फूल धीरे-धीरे विकसित होकर रूप-रंग ग्रहण करके सुन्दर तथा सुरभित बनता है, वह किसी अन्धाधुंध भौतिक नियम के अधीन होकर ऐसा नहीं करता, यद्यपि प्रतीत ऐसा ही होता है। इस भौतिक नियम के पीछे परमेश्वर की पूर्ण चेतना का निर्देशन होता है, अन्यथा वस्तुएँ इतना नियमित रूप धारण नहीं कर सकतीं। कलाकार सम्पूर्ण मनोयोग और कलात्मक अनुभूति से गुलाब का चित्र बनाता है, किन्तु तो भी वह असली गुलाब की तरह पूर्ण नहीं होता। यदि यह सत्य है, तो हम यह किस तरह कह सकते हैं

कि असली गुलाब ने बिना बुद्धि के ऐसा सुन्दर रूप प्राप्त किया? अल्पज्ञता के कारण ही इस निष्कर्ष पर पहुँचा जाता है। सृष्टि तथा संहार के उपर्युक्त वर्णन से हमें यह समझना चाहिए कि सर्वव्यापी होने से परम चेतना प्रत्येक वस्तु का पूरा ध्यान रखती है। परमेश्वर की सर्वव्यापकता का तथ्य यही है। निपट भौतिकतावादियों से भी बढ़कर मूर्ख व्यक्ति अपने को गुणातीतवादी (अध्यात्मवादी) कहते हैं और अपने में सर्वव्यापी चेतना पाये जाने का दावा तो करते हैं, किन्तु कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं करते। ऐसे मूर्ख व्यक्तियों को यह भी पता नहीं चल पाता कि दीवाल के उस ओर क्या हो रहा है। फिर भी वे परम पुरुष की सर्वव्यापी चेतना से अपने को समन्वित होने का झूठा गर्व करते हैं। ऐसे लोगों के लिए भी *श्रीमद्भागवत* का सुनना सहायक बनता है। इससे उनकी आँखें खुल जाएँगी और उन्हें पता चलेगा कि परम चेतना का दावा करने से ही कोई परम भावना से भावित नहीं हो जाता। इस भौतिक संसार में उन्हें प्रमाण देना होता है कि उन्हें ऐसी परम चेतना प्राप्त है। किन्तु नैमिषारण्य के ऋषि कोरे भौतिकतावादियों तथा झूठे अध्यात्मवादियों से ऊपर थे, अतः वे अधिकारी व्यक्तियों से दिव्य विषयों की वास्तविक सत्यता जानने के लिए सदैव इच्छुक थे।

सूत उवाच

राज्ञा परीक्षिता पृष्टो यदवोचन्महा-मुनिः ।

तद्वोऽभिधास्ये शृणुत राज्ञः प्रश्नानुसारतः ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—श्रीसूत गोस्वामी ने उत्तर दिया; राज्ञा—राजा; परीक्षिता—परीक्षित द्वारा; पृष्टः—पूछे जाने पर; यत्—जो; अवोचत्—कहा; महा-मुनिः—महा-मुनि ने; तत्—वही बात; वः—तुमको; अभिधास्ये—मैं बताऊँगा; शृणुत—कृपया सुनें; राज्ञः—राजा द्वारा; प्रश्न—सवाल; अनुसारतः—के अनुसार।

श्रीसूत गोस्वामी ने बताया—अब मैं तुम्हें वे सारे विषय बताऊँगा जिन्हें राजा परीक्षित के द्वारा पूछे जाने पर महा-मुनि ने उनसे कहा था। कृपया उन्हें ध्यानपूर्वक सुनो।

तात्पर्य : प्रत्येक पूछे गये प्रश्न का उत्तर यदि किसी अधिकारी विद्वान का उद्धरण देकर दिया जाता है, तो उससे बुद्धिमानों की तुष्टि होती है। यहाँ तक कि न्यायालयों में भी यही विधि अपनाई जाती है। सर्वश्रेष्ठ वकील अपने मुकद्दमे की स्थापना के लिए बिना कोई कष्ट उठाये पूर्ववर्ती फैसले से साक्ष्य प्रस्तुत करता है। यह परम्परा विधि कही जाती है और विद्वान अधिकारी इधर-उधर के व्यर्थ तर्क न देकर इसका पालन करते हैं।

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः ।

अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम् ॥

(ब्रह्म-संहिता ५.१)

हमें चाहिए कि हम परमेश्वर की आज्ञा मानें, क्योंकि प्रत्येक वस्तु में उनका हाथ है ।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कंध के अन्तर्गत “भागवत सभी प्रश्नों का उत्तर है” नामक दसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए ।